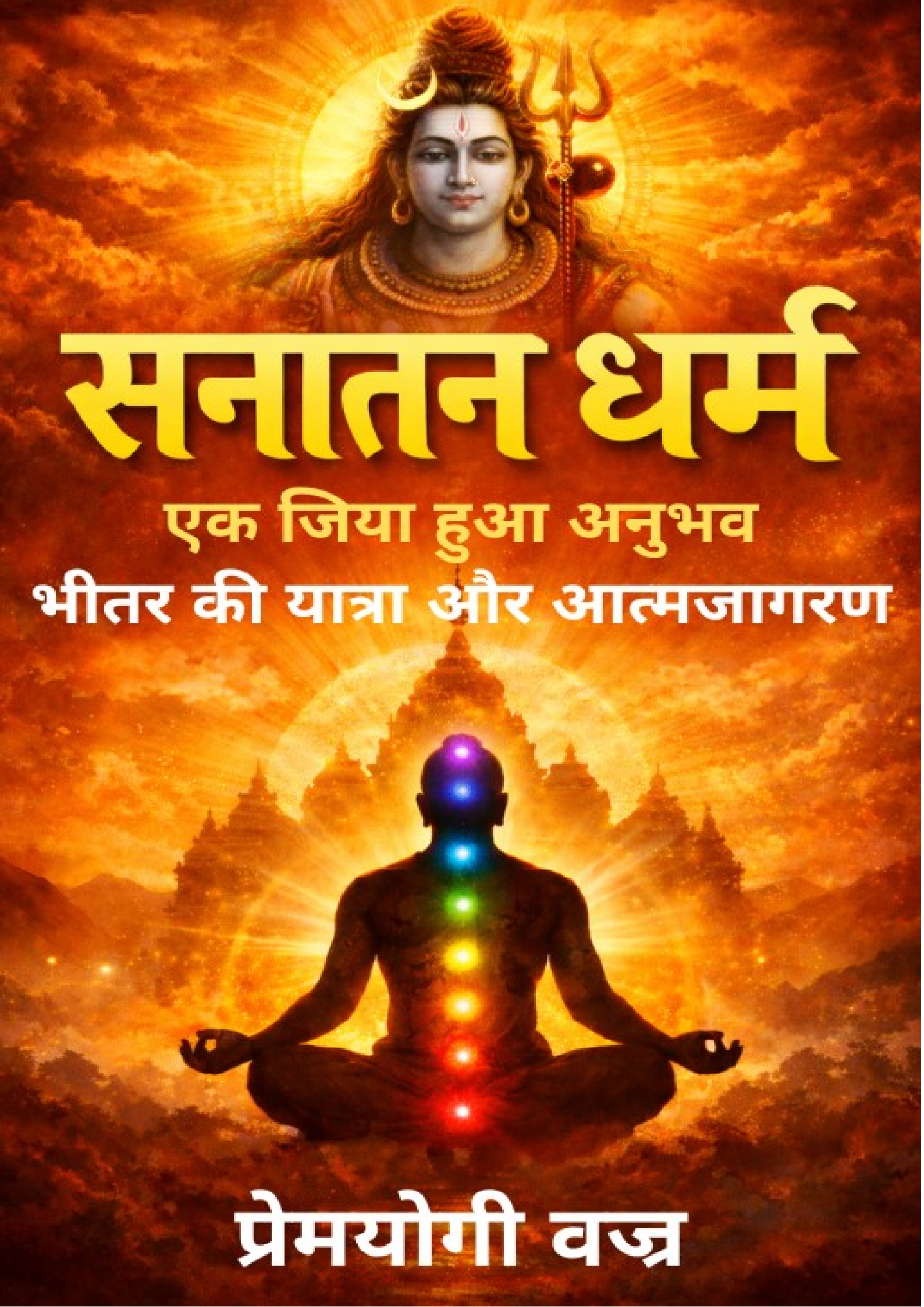
सनातन धर्म
एक जिया हुआ अनुभव
भीतर की यात्रा और आत्मजागरण
प्रेमयोगी वज्र

सनातन धर्म

एक जिया हुआ अनुभव

भीतर की यात्रा और आत्मजागरण

प्रेमयोगी वज्र

© 2026 प्रेमयोगी वज्र। सर्वाधिकार सुरक्षित।

कानूनी अस्वीकरण:
यह पुस्तक केवल शैक्षिक और आध्यात्मिक उद्देश्य से लिखी गई है। इसका उद्देश्य किसी भी विश्वास प्रणाली, परंपरा या व्यक्तिगत दृष्टिकोण को ठेस पहुँचाना, चुनौती देना या अमान्य करना नहीं है। इस पुस्तक को पढ़ने से उत्पन्न होने वाली किसी भी व्याख्या या प्रतिक्रिया की पूरी जिम्मेदारी पाठक की स्वयं की होगी।

लेखक और प्रकाशक कानूनी विशेषज्ञ नहीं हैं। इस पुस्तक की सामग्री को कानूनी, चिकित्सीय, मनोवैज्ञानिक या किसी भी प्रकार की पेशेवर सलाह नहीं माना जाना चाहिए और न ही इसे किसी योग्य विशेषज्ञ या सलाहकार से परामर्श के विकल्प के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।

लेखन के समय उपलब्ध जानकारी को सही और उपयोगी बनाने का पूरा प्रयास किया गया है, फिर भी लेखक और प्रकाशक इसकी पूर्णता या परिणामों की कोई गारंटी नहीं देते और इस पुस्तक की सामग्री के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपयोग से उत्पन्न किसी भी हानि, नुकसान या परिणाम के लिए कोई जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करते।

पाठक अपने सभी निर्णयों, कार्यों और परिणामों के लिए स्वयं पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं। यदि किसी भी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो, तो पाठकों को उपयुक्त पेशेवर मार्गदर्शन लेने की सलाह दी जाती है।

परिचय: जब शास्त्र जीवन बन जाते हैं

यह पुस्तक कोई उपदेश नहीं है, न कोई दर्शन और न ही आध्यात्मिक उपलब्धि की घोषणा। यह केवल एक जीए हुए अनुभव का लेखा-जोखा है – कैसे एक साधारण मनुष्य के जीवन के भीतर सनातन धर्म स्वाभाविक रूप से खुलता चला गया, बिना किसी योजना के, बिना खोज के और बिना किसी विश्वास को पकड़े।

जिसे हम सामान्यतः "शास्त्र" कहते हैं, उसे अक्सर लोग मिथक या अमूर्त दर्शन मान लेते हैं। लेकिन जब जीवन स्वयं अनुभव बनता है, तो कुछ और ही प्रकट होता है: ये शास्त्र चेतना के मानचित्र हैं, जो उन अवस्थाओं का वर्णन करते हैं जिनसे मनुष्य बार-बार गुजरता है, हर संस्कृति और हर युग में। कृष्ण, शक्ति, दुर्गा, शिव और राम केवल अतीत के देवता नहीं हैं; वे जीवन की ही आंतरिक गतियाँ हैं, जो तब प्रकट होती हैं जब चेतना प्रेम, साहस, मौन और संतुलन के माध्यम से विकसित होती है।

यह पुस्तक उस भीतरी यात्रा को आरंभ से अंत तक अंकित करती है – बचपन की मासूमियत और खेल से लेकर आकर्षण और भक्ति तक, प्रेम से जन्मे समाधि तक, शक्ति और दुर्गा के जागरण तक, तांत्रिक एकांत और शिव के स्थिर मौन तक, और अंत में राम अवस्था की शांत व्यवस्था तक।

यहाँ कुछ भी पहले पुस्तकों से नहीं सीखा गया। समझ बाद में आई, जब जीए हुए अनुभव प्राचीन मानचित्रों से आश्चर्यजनक सटीकता के साथ मेल खाने लगे। यही पहचान इस पुस्तक के अस्तित्व का कारण बनी – यह दिखाने के लिए कि सनातन धर्म पुराना, प्रतीकात्मक या अप्रासंगिक नहीं है, बल्कि आधुनिक जीवन में भी जीवित और सक्रिय है, चाहे वह शहरों का जीवन हो, करियर हो, तकनीक हो या जिम्मेदारियाँ।

यह पुस्तक कोई मार्गदर्शिका नहीं है।
यह अनुकरण करने का पथ नहीं है।
यह एक दर्पण है – उन लोगों के लिए, जो अपने भीतर कुछ इसी तरह की हलचल महसूस करते हैं, पर उसे समझने की भाषा नहीं पा रहे।

यदि आप इस पुस्तक को धीरे-धीरे पढ़ें, किसी विश्वास-पद्धति की तरह नहीं बल्कि एक जीवन-कथा की तरह, तो संभव है कि आप पहचान लें – दिव्यता कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे बाहर पहुँचना पड़े, वह तो स्वयं खुलती है, जब जीवन को जागरूकता के साथ जिया जाता है।

जीया हुआ अनुभव के रूप में सनातन धर्म: जब शास्त्र जीवन बन जाते हैं
एक व्यक्तिगत भूमिका

यह कोई दावा नहीं है, न दिव्यता की घोषणा, और न ही स्वयं को किसी परंपरा से ऊपर रखने का प्रयास। यह केवल एक जीए हुए जीवन का विवरण है – कैसे शास्त्र, संबंध, जीवन के चरण और भीतर की साधनाएँ एक साधारण मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक रूप से खुलती चली गईं। मैं यह इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि बहुत से लोग हमारे शास्त्रों को केवल सिद्धांत, मिथक या पुराना दर्शन मानते हैं। मेरे जीवन ने मुझे दिखाया है कि ये शास्त्र जीवन जीने की एक व्यावहारिक विधि हैं, जो सुपरकंप्यूटर, हवाई जहाज और उच्च तकनीक के युग में भी उतनी ही जीवित हैं।

यदि ईश्वरीय अनुमति हुई, तो आगे चलकर एक पूर्ण पुस्तक भी आ सकती है। फिलहाल यह संक्षेप है – उन जिज्ञासु पाठकों के लिए जो यह समझना चाहते हैं कि सनातन धर्म वास्तव में जीवित मनुष्यों में कैसे कार्य करता है।

शास्त्र कोई सिद्धांत नहीं हैं – वे जीवित मानचित्र हैं। मैंने अनुभव किया है कि महान देव-परंपराएँ कोई एक समय या स्थान की ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक विकास-यात्रा के चरण हैं, जो बार-बार, हर युग में, अलग-अलग लोगों में, अलग-अलग रूपों में प्रकट होते रहते हैं। यही कारण है कि इस धर्म को सनातन कहा गया है – शाश्वत – क्योंकि यह किसी एक पैगंबर, एक कथा या एक शताब्दी से बंधा नहीं है।

तकनीक इन चरणों को रोक नहीं सकती। सुई हो, हवाई जहाज हो या सुपरकंप्यूटर – इनमें से कोई भी चेतना के विकास को नहीं रोकता। बाहर के साधन बदलते हैं, भीतर के नियम नहीं।

शिष्य अवस्था: बचपन का अनुशासन और सुनना
मेरा पहला चरण बचपन में शिष्य अवस्था का था। मैं स्वभाव से निरीक्षक था, अनुशासित था, विद्रोही नहीं था। शिक्षक और बुज़ुर्ग जो कुछ सिखाते थे, यदि वह मुझे सही और अच्छा लगता था, तो मैं उसे प्रसन्नता और श्रद्धा से स्वीकार कर लेता था, बिना आलोचना के। अब समझ आता है कि यह चरण हर महान परंपरा में होता है – जानने से पहले सीखना आवश्यक है। राम, कृष्ण, बुद्ध और शंकर – सभी ने शिष्य के रूप में ही शुरुआत की। अहंकार को पहले मुलायम होना पड़ता है, तभी वह घुल सकता है।

दादा गुरु: शब्द और वातावरण की शक्ति
मेरे दादा रोज़ घंटों शास्त्रों का पाठ ज़ोर से करते थे और लोग सुनते थे। वे शब्द जो मेरे कानों में पड़ते थे, उन्होंने मेरे भीतर की दुनिया को गढ़ दिया, बहुत पहले, जब मैं उन्हें

समझ भी नहीं पाता था। मैंने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया – मैंने उन्हें आत्मसात किया। इसलिए मैं उन्हें दादा गुरु कहता हूँ। उन्होंने मुझे मंत्र नहीं दिया, लेकिन वातावरण दिया, लय दी, श्रद्धा दी और शब्द दिया – शब्द-ब्रह्म। वही शब्द बाद में मुझे विश्वास नहीं, बल्कि व्यावहारिक जीवन की ओर ले गए।

कृष्ण अवस्था: किशोरावस्था, आकर्षण और परिष्कृत काम

किशोरावस्था में कृष्ण अवस्था आई, जो लगभग डेढ़ वर्ष तक चली। यह चरण तीव्र और ऊर्जावान था – लड़कियों की ओर आकर्षण, उनका आकर्षण, सामाजिक मोहकता और सूक्ष्म यौन आनंद – पर कभी अश्लीलता नहीं। इसका उद्देश्य भोग नहीं था, बल्कि काम के तत्व को समझना था। आकर्षण को जगाया गया, पर उसे सात्त्विक वातावरण में अनुशासन के साथ रखा गया। धीरे-धीरे आकर्षण भक्ति में बदल गया। मन में स्वयं एक ध्यान-चित्र बनने लगा – राधा और कृष्ण का एक-दूसरे में विलीन होना – और इससे सहज समाधि उत्पन्न हुई, ठीक वैसी ही जैसी भागवत पुराण में गोपियों के माध्यम से वर्णित है। यह अवस्था अधिक समय नहीं रह सकती, क्योंकि यह बहुत अस्थिर होती है और निरंतर भौतिक उपस्थिति की माँग करती है। आकर्षण के बीच शारीरिक संपर्क से बचना लंबे समय तक कठिन था, पर यही बाद की वैराग्य अवस्था को जीवित बनाता है। इसके बिना त्याग सूखा रह जाता है।

शक्ति / दुर्गा अवस्था: साहस, प्रेम और भीतरी स्त्रीत्व

कृष्ण अवस्था के बाद शक्ति अवस्था आई, जो विश्वविद्यालय जीवन के लगभग पाँच वर्षों तक चली और विवाह के बाद भी पत्नी के सहयोग से जारी रही। भीतर मैं स्त्री भाव में जी रहा था – कोमलता, संवेदनशीलता और भक्ति – और बाहर मैं साहसी बन गया, अधर्म से लड़ने को तैयार, लेकिन सात्त्विक, अहिंसक, रणनीतिक और कानूनी तरीके से। यही दुर्गा का कार्य है – क्रूरता बिना साहस, घृणा बिना शक्ति। इसी दौरान मन में स्थित आंतरिक संगिनी का ध्यान-चित्र पूर्ण रूप से जीवंत हो गया। वह केवल विचार नहीं रहा, बल्कि भीतर स्थायी उपस्थिति बन गया, जैसे राधा कृष्ण के भीतर रहती है, उनकी सांसारिक जीवन में रहते हुए भी। वैष्णव परंपरा में राधा को ह्लादिनी शक्ति कहा गया है – कृष्ण की भीतर की आनंद-चेतना। जब निरंतर स्मरण और भक्ति से आनंद स्वतः बहने लगा, तो समझ आया कि यही वही धारा है जिसका वर्णन शास्त्र करते हैं। यह कोई दिव्य दावा नहीं था, बल्कि यह पहचान थी कि मनुष्य के भीतर वही प्रक्रिया घट रही है, जिसे प्राचीन मानचित्रों ने दर्शाया है। मैं थोड़ा सफल हुआ – बल से नहीं, बल्कि समर्पण और ईश्वरीय सहायता से।

गुरुकुल के रूप में जीवन: देवता जीवित मनुष्यों में

धीरे-धीरे मुझे दिखने लगा कि देवता स्वर्ग से नहीं आते, वे हमारे आसपास के लोगों के माध्यम से आते हैं। घर में रहने वाला शरारती लड़का कृष्ण की भूमिका निभा रहा था। पिता

में राम का स्वरूप था – अनुशासन, जिम्मेदारी और व्यवस्था। चाचा में शिव था – गहराई, मौन और वैराग्य। जिन लड़कियों से आकर्षण हुआ, उनमें शक्ति थी। ये कल्पनाएँ नहीं थीं, ये जीवंत प्रसारण थे। मैंने इन सभी भूमिकाओं को अपने जीवन में एकीकृत कर लिया। ऐसा लगा मानो सभी देवताओं ने मिलकर एक ही राक्षस को नष्ट करने का निश्चय किया हो – अज्ञान को।

शिव अवस्था: तंत्र, एकांत और ऊपर उठती ऊर्जा

जब शक्ति अवस्था अपने चरम पर पहुँची, तो सांसारिक ऊर्जा स्वतः कम होने लगी और एकांत की ओर धकेलने लगी। यही शिव अवस्था की शुरुआत थी। यहाँ शिव का अर्थ केवल संसार से अलग होना नहीं, बल्कि तांत्रिक रूपांतरण था – मूल ऊर्जा का कुंडलिनी बनकर ऊपर उठना। जैसे-जैसे ऊर्जा ऊपर गई, भीतर का ध्यान-चित्र बदला। स्त्री संगिनी की जगह पुरुष गुरु का चित्र आ गया। इससे भीतर स्थिरता और दिशा का अनुभव हुआ। बाहर की दुनिया को यह अजीब लग सकता है, पर यह कोई भ्रम या भोग नहीं था, बल्कि शुद्ध कुंडलिनी साधना थी, जहाँ चित्र ऊर्जा की दिशा के अनुसार बदलते हैं। यही कारण है कि मेरी हाल की पुस्तकों में शिव अवस्था अधिक दिखाई देती है – क्योंकि वह सबसे हाल की और तीव्र अवस्था है।

राम अवस्था: विश्राम, व्यवस्था और संतुलन (अभी चल रही है)

राम अवस्था अभी प्रारंभ हुई है। केवल कुंभक और निर्विकल्प-सी झलकियों के बाद यह अवस्था आई। राम का अर्थ ही है विश्राम, संतुलन और स्थिरता। यह नाटकीय नहीं, बल्कि उथल-पुथल के बाद का शांत जीवन है। इसे अभी पूरी तरह लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि इसे पूरी तरह जीना शेष है। यह अंतिम एकीकरण अवस्था होगी। अब यह संसार और ईश्वरीय व्यवस्था पर निर्भर है कि यह अवस्था कितनी स्थिर रहने देती है, यद्यपि व्यक्तिगत प्रयास भी आवश्यक है।

क्यों संसार इन अनुभवों को गलत समझता है

लोग केवल काम, दमन, लिंग या भोग देखते हैं। वे रूपांतरण नहीं देखते। इसी कारण तंत्र को हमेशा प्रतीकात्मक और सूक्ष्म रखा गया। मैं कभी नहीं कहता कि मैं शिव हूँ या कृष्ण हूँ। मैं कहता हूँ – वह अवस्था आई। भाषा ही वह पतली रेखा है जो ज्ञान और गलतफहमी के बीच है।

अंतिम समझ: सनातन धर्म मनुष्य का विकास है

मेरे जीवन ने मुझे दिखाया कि शास्त्रों पर विश्वास नहीं किया जाता – उन्हें जिया जाता है। वे चेतना के मानचित्र हैं, प्रतीकों में लिखे हुए। जब उन्हें जिया जाता है, तो अज्ञान स्वतः मिटता है। वेदों में यह सब एक ही समग्र सत्ता के अंग बताए गए हैं, अलग-अलग विभाजन

नहीं। बाद में विद्वानों ने अपने-अपने समझ के अनुसार इन हिस्सों को अलग किया और उनसे पुराण बने। मैं मानवता से ऊपर नहीं हूँ। मैं केवल यह दिखाने वाला उदाहरण हूँ कि जब ध्वनि, अनुशासन, प्रेम और संबंध विकास को सहारा देते हैं, तो मनुष्य कैसे विकसित होता है।

चार अवतार, एक भवन के चार स्तंभ

(क्यों सनातन धर्म के सभी मार्ग विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं)

सनातन धर्म के ये चार अवतार एक ही भवन के चार स्तंभों के समान हैं। जैसे किसी भवन का अस्तित्व तब तक संभव नहीं होता जब तक उसके सभी स्तंभ मज़बूती से खड़े न हों, वैसे ही जीवन में पूर्णता और मुक्ति की अनुभूति तब तक पूरी नहीं होती जब तक ये चारों रूप एक ही मनुष्य के भीतर प्रकट न हों। इससे एक गहरी सच्चाई भी सामने आती है – सनातन धर्म के अनेक संप्रदाय और मार्ग आपस में विरोधी या प्रतिस्पर्धी नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे को पूर्ण करने वाले हैं।

सिख धर्म और जैन धर्म, जो राम जैसे चरित्र, अनुशासन और नैतिकता को पूर्ण समर्थन देते हैं, उन्हें भी अलग-अलग धर्मों की तरह नहीं, बल्कि एक ही हिंदू सभ्यता की परंपराओं या धाराओं के रूप में देखा जा सकता है। यदि इस समझ को और व्यापक किया जाए, तो इस्लाम और ईसाई धर्म जैसी परंपराओं को भी उसी शाश्वत प्रवाह की सहायक शाखाएँ माना जा सकता है – बशर्ते वे मानवता, करुणा और नैतिक व्यवस्था को बनाए रखें। इस दृष्टि से वे अन्य धार्मिक धाराओं से कटे हुए नहीं हैं, बल्कि उसी सार्वभौमिक गति में सहभागी हैं, जो मनुष्य को धर्म, सत्य और उत्थान की ओर ले जाती है। फर्क केवल इतना है कि हर परंपरा इसे अपनी भाषा, अपने प्रतीकों और अपने ऐतिहासिक संदर्भ में व्यक्त करती है। जैसे एक भवन को चारों स्तंभ मिलकर थामे रहते हैं, वैसे ही ये परंपराएँ मिलकर मानव चेतना के एक जागरण को सहारा देती हैं – और व्यवहार में वे सदा से यही करती आई हैं।

समापन टिप्पणी: जब मानचित्र स्वयं पथ बन जाता है

अब तक जो वर्णन किया गया है, वह ऊपर से देखा गया पूरा मानचित्र है – एक मनुष्य के जीवन का संपूर्ण चक्र, जो सुनने से शुरू होकर प्रेम, शक्ति, मौन और संतुलन से होकर गुजरता है। लेकिन मानचित्र यात्रा नहीं होता। इन अवस्थाओं को वास्तव में समझने के लिए उन्हें शरीर और मन के भीतर धीरे-धीरे, कदम-दर-कदम जीना पड़ता है। और इस यात्रा का पहला कदम हमेशा खेल, मासूमियत और आनंद से शुरू होता है। इसलिए अब कथा फिर उसी शुरुआत की ओर लौटती है – कृष्ण-जीवन की उस खेलती हुई जागृति की ओर, जहाँ चेतना पहली बार संसार के साथ नृत्य करना सीखती है।

पुस्तक भाग 1: सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव: कृष्ण जागरण और भीतर की रस-यात्रा

विषय सूचि

अध्याय 0: बाल-कृष्ण – खेल से हुई शुरुआत
आकर्षण से पहले, अनुशासन से पहले और किसी भी आंतरिक संघर्ष से पहले केवल खेल था। प्रेमयोगी का बचपन एक सहज हल्केपन से भरा था – शरारत बिना दुर्भावना के, जिज्ञासा बिना भय के और आनंद बिना किसी कारण के। उसने संसार को नियमों से नहीं, बल्कि गति, हँसी, छेड़छाड़ और छोटे-छोटे विद्रोहों से जाना, जो कभी अवज्ञा में नहीं बदले। यह बाल-कृष्ण अवस्था थी – जहाँ बुद्धि मासूमियत के भीतर छिपी रहती है। वह वस्तुएँ नहीं चुराता था, वह क्षण चुराता था। वह सीमाएँ परखता था, अधिकार नहीं। उसे लय, समय और सामाजिक गर्माहट का अभ्यास हो गया, बिना यह जाने कि ये कितने मूल्यवान हैं। संगीत, खेल, मज़ाक और सहज क्रियाओं ने उसके स्नायु-तंत्र को तब आकार दिया, जब आध्यात्मिकता का कोई नाम भी नहीं था। इस अवस्था ने उसे स्वतंत्रता सिखाई – जीवन को हल्के से छूना, बिना पकड़े। आगे चलकर यही गुण उसे तब बचाने वाला था, जब आकर्षण और ऊर्जा तीव्र होने लगे।

अध्याय 1: रस का जागरण
किशोरावस्था में प्रवेश करते ही प्रेमयोगी के भीतर एक नई शक्ति चलने लगी। अनुशासन और निरीक्षण तो बने रहे, पर एक सूक्ष्म धारा प्रवाहित होने लगी – आकर्षण। यह अचानक काम नहीं था, न विद्रोह। यह रस था – जीवन का स्वाद, सुंदरता, ध्वनि, गति और उपस्थिति के प्रति संवेदनशीलता। लड़कियाँ वस्तु नहीं बनीं, वे भीतर की हलचल का दर्पण बन गईं। आकर्षण ने जागरूकता को तीव्र किया। चाल बदल गई, वाणी में कोमलता आ गई और स्वाभाविक गरिमा प्रकट होने लगी। बिना जाने वह कृष्ण जीवन के पहले द्वार में प्रवेश कर चुका था – जहाँ चेतना बल से नहीं, मोहकता से सीखती है।

अध्याय 2: खेल, दूरी और भीतरी अनुशासन
जैसे-जैसे आकर्षण बढ़ा, प्रेमयोगी को खतरे का भी आभास हुआ। अधिक निकटता अनुशासन को तोड़ सकती थी और अधिक दमन मन को विकृत कर सकता था। इसलिए उसने अनजाने में मध्य मार्ग खोज लिया – दूरी के साथ खेल। वह सामाजिक रहा, पर सीमित। मित्रवत रहा, पर संयमित। आकर्षक रहा, पर अप्राप्य। यह दूरी तीव्रता को बनाए रखती थी, बिना पतन के। वातावरण सात्त्विक बना रहा और इसी सात्त्विक पात्र ने कच्ची काम-ऊर्जा को जागरूकता में बदल दिया। यहीं कृष्ण जीवन का रहस्य खुला – इच्छा को मारना नहीं होता, उसे परिष्कृत करना होता है। नियंत्रण दमन नहीं था, वह बुद्धिमान दिशा थी।

अध्याय 3: आकर्षण से जन्मी भक्ति
एक दिन बिना प्रयास के आकर्षण भक्ति में बदल गया। जो पहले उत्तेजना था, वह स्मरण

बन गया। मन में एक ध्यान-चित्र स्वाभाविक रूप से बन गया – किसी विधि से नहीं, बल्कि स्थिर प्रेम से। भीतर की संगिनी अब कल्पना नहीं रही। वह उपस्थिति बन गई। बाहर न होने पर भी वह भीतर रहने लगी। इस स्मरण से तल्लीनता पैदा हुई और तल्लीनता से स्थिरता। प्रेमयोगी इसे ध्यान नहीं कहता था। वह केवल इतना जानता था कि मन मधुरता में टिक जाता है। बाद में शास्त्रों ने बताया कि भक्ति ऐसे ही जन्म लेती है – विश्वास से नहीं, बल्कि निरंतर रस से।

अध्याय 4: गोपी समाधि

जैसे-जैसे स्मरण गहरा हुआ, संसार बिना प्रयास के पीछे हटने लगा। पढ़ते हुए, चलते हुए या अकेले बैठे, वही ध्यान-चित्र भीतर चमकता रहता। विचार कमजोर हो गए। समय हल्का हो गया। आनंद फैल गया। यह न तो समाधि-ट्रांस था और न पलायन। यह गोपी-समाधि थी – वह अवस्था जहाँ ध्यान स्वयं को भूल जाता है और प्रिय की ओर एकमात्र गति बन जाता है। यहीं प्रेमयोगी ने जाना कि समाधि हमेशा मौन से नहीं जन्मती – कभी-कभी वह प्रेम से जन्मती है।

अध्याय 5: स्वाभाविक वापसी

कृष्ण जीवन अधिक समय तक नहीं टिकता। वह तेज़ लौ की तरह जलता है। किशोरावस्था के अंत के साथ ही उसकी तीव्रता धीरे-धीरे घटने लगी। आकर्षण मंद हुआ। ध्यान-चित्र कोमल हो गया। ऊर्जा किसी और दिशा की ओर मुड़ने लगी। इसमें कोई दुःख नहीं था, कोई क्षति नहीं थी – केवल तैयारी थी। जो सीखना था, सीख लिया गया। जो परिष्कृत होना था, हो गया। रस अपना कार्य पूरा कर चुका था। यह वापसी असफलता नहीं थी – यह पूर्णता थी। और इसी पूर्णता से एक गहरी शक्ति स्वयं को तैयार करने लगी – शक्ति अवस्था, जहाँ ऊर्जा नाचना छोड़कर निर्माण करने लगती है।

अध्याय 0: बाल-प्रेमयोगी – खेल से हुई शुरुआत (जीवित स्मृति के साथ विस्तृत रूप)

आकर्षण से पहले, अनुशासन से पहले और किसी भी भीतरी संघर्ष के जन्म से पहले केवल खेल था – पर वह साधारण खेल नहीं था। वह जंगली था, संक्रामक था, उमड़ता हुआ और जीवित था। वह केवल प्रकृति से नहीं सीखा गया था, बल्कि शरारत के एक जीवित रूप से भी सीखा गया था। प्रेमयोगी जन्म से पूर्ण कृष्ण नहीं था; वह संग से कृष्ण बना। कृष्ण का आधा अंश उसमें स्वाभाविक रूप से था – कोमलता, मासूमियत, हँसी और खुलापन – और दूसरा आधा उसके जीवन में मोहन के रूप में आया, एक शरारती रिश्तेदार लड़का, जो थोड़ा बड़ा था, बिल्कुल बेलगाम था और कच्ची, अनगढ़ ऊर्जा से भरा हुआ था। मोहन केवल शरारती नहीं था; वह एक तूफ़ान था। अपने असली घर में वह पहले से ही कुख्यात था – राह चलते लोगों पर प्रतिक्रिया देखने के लिए पत्थर फेंकना, नुकसान के लिए नहीं, और एक बार तो उसने अपने ही स्कूल के अध्यापक के सिर पर पत्थर मार दिया था, जिसने उसका भाग्य तय कर दिया। उसके माता-पिता ने उसे सुधारने के लिए सब कुछ किया – डाँटना, पीटना, विनती करना, धमकी देना, अनुशासन और पूजा-पाठ – लेकिन कुछ भी काम नहीं आया। थककर और हारकर उन्होंने उसे उसकी बुआ के घर, यानी प्रेमयोगी के घर छोड़ दिया, यह सोचकर कि दूरी, आध्यात्मिक संस्कार और नया वातावरण उसे सही राह पर ले आएँगे। वे थोड़ा ही सफल हुए। आध्यात्मिक वातावरण ने उसे कुछ नरम किया, पर शरारत उसकी प्रकृति ही बनी रही, और इसी विचित्र संगम में प्रेमयोगी का बचपन साधारण मासूमियत से बदलकर सच्ची बाल-कृष्ण लीला बन गया।

मोहन ने जल्दी ही ग्वालों के बच्चों में अपने साथी बना लिए और प्रेमयोगी उसके पीछे-पीछे इस नए संसार में चला गया। दोनों मिलकर एक छोटा सा गिरोह बन गए – आधा मासूम, आधा जंगली। वे जानबूझकर गायों को दूसरे किसानों के खेतों में छोड़ देते ताकि वे भरपेट खा सकें, उजड़े हुए बागों से केले चुरा लाते, पहाड़ी मक्के के खेतों में चढ़कर हरे भुट्टे तोड़ते, उन्हें जंगल में ले जाकर आग जलाते, भूनते और कालिख लगे हाथों व चमकती आँखों के साथ राजाओं की तरह खाते। वे पुजारी-बुआ की कर्मकांड वाली पूजा से गुड़ और नारियल चुरा लेते – भूख के लिए नहीं, उत्सव के लिए – और हर चोरी जंगल की दावत में बदल जाती, जहाँ हँसी, आग की रोशनी और यह भाव होता कि दुनिया की कोई सीमा नहीं है और कोई परिणाम नहीं है। यौन शरारतें भी इस अवस्था का हिस्सा थीं – पूरी तरह मासूम, पूरी तरह बचकानी और बिल्कुल बिना छननी के। एक बार मोहन ने बच्चों के एक समूह को समझा दिया कि कैक्टस जैसे पौधे से निकला एक जलन पैदा करने वाला दूध यौन स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा होता है। उसने वह सबके गुप्त अंगों पर लगवा दिया और शक्ति व वृद्धि का वादा किया। परिणाम हुआ भयानक सूजन, घबराहट, रोना और ऐसा तूफ़ान कि माता-पिता उसे छिपा भी नहीं पाए। प्रेमयोगी सब देखता रहा, हँसता रहा, सीखता रहा और चुपचाप यह पाठ जमा करता गया कि जागरूकता के बिना शक्ति हमेशा अराजकता बन जाती है।

एक और बार मोहन पेड़ पर चढ़ गया और एक लड़की को नीचे खड़ा होने को कहा, यह कहकर कि वह उसे बड़ा आश्चर्य देगा। वह आश्चर्य पहले दिखाई नहीं दिया, पर फिर ऐसा दिखाई दिया कि कभी भूला नहीं जा सका, और उसके बाद डाँट-पिटाई हुई, जिसने कुछ नहीं बदला। उन्होंने पहाड़ियों पर बैलों की लड़ाइयाँ करवाईं, ठंडी पवित्र पहाड़ी कुंड में नंगे नहाए, और एक बार मोहन उसी कुंड में पेड़ की डाल से कूद गया और बहुत देर तक ऊपर नहीं आया। चारों ओर घबराहट फैल गई, सबने मान लिया कि वह डूब गया है। कुछ ने कहा कि कुंड के एक कोने में रहने वाले नाग देवता उसे ले गए हैं। फिर अचानक वह बाहर आया – जीवित, मुस्कुराता हुआ, बिल्कुल सुरक्षित – और डर श्रद्धा में बदल गया। डाँटें अनगिनत थीं, पिटाइयाँ लगातार होती रहीं और चेतावनियाँ व्यर्थ रहीं, पर लीला बिना रुके चलती रही।

इन सबके बीच प्रेमयोगी सब देखता, आत्मसात करता और भीतर ही भीतर उसे परिष्कृत करता रहा। वह कभी मोहन जितना लापरवाह नहीं हुआ, और यद्यपि उसने उसे कई बार बचाया, पर अपनी सुरक्षा की कीमत पर कभी नहीं। उसने सीख लिया कि कहाँ रुकना है, कहाँ पीछे हटना है और कहाँ उन्माद को खेल में बदल देना है। मोहन ने उसे आग दी और प्रेमयोगी ने उसे आकार दिया। मोहन ने उसे कच्चा कृष्ण दिया और प्रेमयोगी ने उसमें जागरूकता जोड़ दी।

इसी तरह प्रेमयोगी पूर्ण हुआ – न शास्त्र से, न अनुशासन से, न किसी शिक्षा से, बल्कि अराजकता के साथ रहते हुए भी मासूम बने रहकर। हर शरारत ने उसके स्नायु-तंत्र में स्वतंत्रता अंकित की। हर बच निकलना उसे समय की समझ सिखाता गया। हर डाँट ने वैराग्य सिखाया। हर जंगल की आग ने सिखाया कि बिना पकड़ के आनंद कैसे लिया जाता है, हर चुराया फल सिखाता गया कि जीवन से बिना अपराध-बोध कैसे लिया जाता है, और हर निकट-खतरा सिखाता गया कि मूर्खता के बिना निर्भय कैसे हुआ जाता है। बाद में जब ऊर्जा उठेगी, जब आकर्षण जलेगा, जब मन कसने लगेगा और जब त्याग कठोर बनने लगेगा, तब यही बचपन उसे बचाएगा, क्योंकि प्रेमयोगी के जीवन का पहला पाठ नियंत्रण नहीं था – खेल था। और खेल, जब जागरूकता से शुद्ध होता है, तो वही दिव्य लीला बन जाता है। इसी कारण यह अध्याय सब से पहले रखा गया है और इसे अध्याय शून्य कहा गया है। योगी बाद में आया, साधक बाद में आया, रहस्यवादी बाद में आया, पर सबसे पहले कृष्ण आया – मासूमियत और शरारत से बना हुआ, प्रेमयोगी और मोहन से मिलकर, कोमलता और तूफ़ान से मिलकर, एक पूर्ण सत्ता के रूप में।

अध्याय 1: रस का जागरण

जैसे ही प्रेमयोगी किशोरावस्था की देहलीज़ पार कर गया, जीवन ने धीरे-धीरे अपनी भाषा बदलनी शुरू कर दी। खेल समाप्त नहीं हुआ, वह परिष्कृत हो गया। शरारत खत्म नहीं हुई, वह सूक्ष्म और अधिक सौम्य हो गई। बचपन की उन्मुक्त स्वतंत्रता अब एक नई भीतरी शक्ति में बदलने लगी – लगभग अदृश्य, पर पहले से कहीं अधिक प्रभावशाली। यह शक्ति न काम थी, न विद्रोह, न इंद्रियों की बेचैन भूख। यह रस था – जीवन का स्वाद, जो भीतर से जाग रहा था। रस वही संवेदनशीलता है, जब चेतना केवल सुंदरता को देखती नहीं, उसे महसूस करने लगती है। ध्वनि गहरी हो जाती है, गति अर्थपूर्ण हो जाती है और उपस्थिति स्वयं ही नशे जैसी लगने लगती है। प्रेमयोगी इस शब्द को नहीं जानता था, पर उसका शरीर उसे पूरी तरह जानता था। उसकी चाल धीमी हो गई, आलस्य से नहीं बल्कि जागरूकता से। उसकी वाणी कोमल हो गई, भय से नहीं बल्कि लय से। उसकी आँखें ठहरना सीख गईं और उसका हृदय सुनना सीख गया। बिना जाने वह कृष्ण जीवन के पहले द्वार में प्रवेश कर चुका था, जहाँ चेतना बल या संघर्ष से नहीं, बल्कि मोहकता से सीखती है।

लेकिन बाहरी संसार उसी सामंजस्य से नहीं चलता था। जिस शहर के स्कूल में उसे भेजा गया, वह भीड़भाड़ वाला, शोर से भरा और अपनी सीमा से कहीं अधिक भरा हुआ था। प्रवेश पर आधिकारिक रोक लगी हुई थी, फिर भी नियति ने अपने ही नियम मोड़ दिए। विधायक की विशेष सिफारिश से प्रेमयोगी को प्रवेश मिला – जैसे भाग्य के पिछले द्वार से, यह जाने बिना कि यह रास्ता भ्रम के एक लंबे गलियारे में बदल जाएगा। माता-पिता ने आशा के साथ उसका दाखिला कराया, यह मानकर कि शहर उसका भविष्य गढ़ेगा। उसने कंप्यूटर साइंस चुनी, यह सोचकर कि आधुनिक ज्ञान सफलता की कुंजी है, पर गणित उसके मार्ग में दीवार बनकर खड़ा हो गया। कम्पार्टमेंट आया, और उसके साथ पहली शांत असफलता। उसने नॉन-मेडिकल विज्ञान में जाकर फिर प्रयास किया, पर गणित और भी कठोर रूप में लौट आया, एक और कम्पार्टमेंट, एक और अस्वीकृति के साथ। ऐसा लगा जैसे व्यवस्था स्वयं कह रही हो कि उसकी बुद्धि कहीं और की है।

अंततः एक करुणामयी मैडम ने उसे जीवविज्ञान वर्ग में स्वीकार किया – प्रतिभा के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि उन्होंने उसमें कुछ टूटा हुआ नहीं देखा। वह वहाँ तो आ गया, पर तब तक उसकी रुचि पुस्तकों से खिसक चुकी थी। वह अंतिम बेंच पर बैठने वाला, बाज़ारों में भटकने वाला, पार्कों में घूमने वाला और पुस्तकों की बजाय मनुष्यों को पढ़ने वाला बन गया। शहर ने उसे चेहरों, भावों, हाव-भाव, स्वर और मौन गतियों का पाठ पढ़ाया। उसने सीख लिया कि मनुष्य बिना शब्दों के कैसे बोलते हैं, आकर्षण पहचान से पहले कैसे चलता है और ऊर्जा स्थानों में कैसे बदलती है। समीकरण और सूत्र छूटते गए, पर जीवन स्वयं उसे प्रत्यक्ष रूप से सिखाने लगा। एक बार उसी ज़मीन पर एक क्रोधित शिक्षक ने उसे बुरी तरह पीटा –

हल्के से नहीं, बल्कि सच्चे क्रोध से। चोट लगी, पर भीतर कुछ टूटा नहीं। किसी तरह वह पास हो गया, पर भौतिकी अंतिम संदेश की तरह फिर लौट आई – एक और कम्पार्टमेंट के रूप में, मानो जीवन एक द्वार पूरी तरह बंद कर रहा हो ताकि दूसरा खुल सके।

परिवर्तन चुपचाप आया, बड़ी बहन की सहायता से। अगले वर्ष दोनों ने स्कूल बदल दिया और भीड़भाड़ वाले शहर को छोड़कर एक सुंदर पहाड़ी कस्बे में प्रवेश किया – आदर्श, स्वच्छ और सुव्यवस्थित, जिसे एक छोटी सेना इकाई का संरक्षण प्राप्त था। वहाँ के वातावरण में ही अनुशासन बसा हुआ था, अराजकता को छिपने की कोई जगह नहीं थी। सड़कें शांत थीं, पेड़ सतर्क खड़े थे और आकाश इतना पास लगता था कि छुआ जा सके। जब प्रेमयोगी वहाँ पहुँचा, तो उसके भीतर कुछ प्राचीन जाग उठा। ऐसा लगा जैसे कोई भूला हुआ प्रदेश फिर से मिल गया हो, जैसे भूमि स्वयं उसे पहचान रही हो। छात्र कम थे, लोग सरल थे और आसपास के गाँवों की साँसों में मिट्टी थी। वह आधा-कृष्ण, जो बाज़ारों और पार्कों में भटक चुका था, यहाँ बिना संदेह, बिना शोर और बिना प्रतियोगिता के स्वीकार कर लिया गया। वर्षों बाद पहली बार उसे लगा कि वह फिर से कहीं का है।

यहीं रस पूरी तरह खिला और यहीं कृष्ण का दूसरा आधा प्रकट हुआ। वह न प्रेमिका थी, न मित्र और न किसी साधारण अर्थ में संगिनी। वह एक प्यारी, मीठी बोली वाली, शरारती लड़की थी – मोहन की तरह नटखट और हवा की तरह कोमल। अगर मोहन ने प्रेमयोगी को उन्मुक्तता दी थी, तो उसने उसे कोमलता दी। वह सहज हँसती थी, हल्के से बोलती थी और वही न पकड़ में आने वाला आकर्षण अपने भीतर लिए थी, जो अब स्त्री रूप में बह रहा था। उनके बीच जो घटा, वह संसार की समझ का प्रेम नहीं था, बल्कि उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और गहरा – बिना स्पर्श का ब्रह्मांडीय प्रेम। वे कभी एक-दूसरे को घूरते नहीं थे, कभी सीधे बात नहीं करते थे और कभी छूते नहीं थे। अक्सर वे पास भी नहीं खड़े होते थे, फिर भी सब कुछ घटता था। दूरी में से गुजरती एक दृष्टि पूरा दिन बदल देती थी। दूर से सुनी उसकी हँसी हृदय को नरम कर देती थी। एक ही कक्ष में उसकी उपस्थिति उसके कदमों को बिना जाने ही धीमा कर देती थी। उनके मार्ग बिना टकराए मिलते थे, और क्षण बिना कुछ घटे फैल जाते थे। यही रस का शुद्ध रूप था – अधिकार नहीं, कंपन के रूप में प्रेम। आकर्षण ने जागरूकता को इतना तीक्ष्ण कर दिया कि मौन भी संवाद बन गया। वे समय से, अनुपस्थिति से, संयम से और गति से बोलते थे। हृदय धुआँ उठाए बिना जलना सीख गया।

प्रेमयोगी फिर से प्रशिक्षित हो रहा था – जैसे बचपन में हुआ था, पर अब शरारत से नहीं, सौंदर्य से; स्वतंत्रता से नहीं, विरह से; और निकटता से जो कभी दूरी को मिटाती नहीं थी। यह कृष्ण जीवन का दूसरा द्वार था – जहाँ प्रेम प्रकट होता है पर बाँधता नहीं, जहाँ इच्छा उठती है पर परिष्कृत हो जाती है और जहाँ आकर्षण एक जाल नहीं, बल्कि योग का उपकरण बन जाता है। उस समय वह यह नहीं जानता था, पर यही अवस्था उसके अस्तित्व

में सबसे गहरी नाली काट रही थी, उसे उस भविष्य के लिए तैयार कर रही थी जहाँ ऊर्जा उठेगी, मन गल जाएगा और सुख आनंद में बदल जाएगा। योग की अग्नि से पहले रस की सुगंध आवश्यक थी। इसलिए अध्याय एक न मिलन पर समाप्त होता है, न वियोग पर, बल्कि एक कंपन भरी स्थिरता पर, जहाँ दो अस्तित्व तारों की तरह एक-दूसरे की परिक्रमा करते हैं – कभी टकराते नहीं, पर हमेशा एक-दूसरे के गुरुत्व को आकार देते रहते हैं। बालक जागरूक हुआ था, जागरूकता रस बनी और रस जागरण का द्वार बन गया।

अध्याय 2: खेल, दूरी और भीतरी अनुशासन

जैसे-जैसे प्रेमयोगी के भीतर आकर्षण बढ़ा, उसके साथ-साथ एक और चीज़ चुपचाप जागने लगी – खतरे की अनुभूति। यह खतरा किसी व्यक्ति या परिस्थिति से नहीं था, बल्कि उस भीतरी असंतुलन से था, जो बिना संयम की निकटता पैदा कर सकती थी। वह बिना समझे ही महसूस करने लगा कि यदि वह बहुत पास गया तो कुछ सूक्ष्म खो देगा, और यदि पूरी तरह दबा दिया तो वही गति अँधेरे रूप में मुड़ जाएगी। इन दोनों सिरों के बीच उसने न सोचकर, बल्कि सहज बुद्धि से एक मार्ग खोज लिया – मध्य मार्ग, जहाँ आकर्षण अनुशासन को नष्ट किए बिना रह सकता था। उसने दूरी के साथ खेलना सीख लिया। वह सामाजिक रहा, पर सीमित; मित्रवत रहा, पर संयमित; गर्मजोशी से भरा रहा, पर उपलब्ध नहीं। इससे उसके चारों ओर एक अजीब सी तीव्रता बन गई। लोग उसे छुए बिना भी उसके निकट महसूस करते थे, और यह अदृश्य सीमा उसे और उन्हें दोनों को सुरक्षित रखती थी।

परिस्थिति स्वयं इस संतुलन का समर्थन कर रही थी। पहाड़ी कस्बा स्वच्छ, सुव्यवस्थित, शांत और अनुशासित था – एक छोटी सेना इकाई की उपस्थिति और लोगों के सरल जीवन से आकार पाया हुआ। वहाँ कोई अराजकता नहीं थी, जो भीतर की गतियों को छिपा सके, और हवा स्वयं सात्त्विक लगती थी, जिससे हर अनुभूति अधिक तीव्र और स्पष्ट हो जाती थी। ऐसे वातावरण में कच्ची काम-ऊर्जा फूटती नहीं थी; वह जागरूकता में परिष्कृत हो जाती थी। यही प्रेमयोगी की कृष्ण जीवन की पहली गहरी समझ बनी – इच्छा को नष्ट नहीं करना होता, उसे बुद्धि से रूपांतरित करना होता है।

उस विद्यालय में सभी छात्रों में से सविता अलग दिखाई देती थी। उसके भीतर एक स्वाभाविक अधिकार था, जो माता-पिता के गहरे विश्वास और शिक्षकों के सम्मान से पैदा हुआ था। इसी कारण वह लड़कों और लड़कियों के बीच बिना किसी संदेह के स्वतंत्र रूप से घूमती थी। वह रूप से असाधारण नहीं थी, पर आत्मविश्वास ने उसे दीप्तिमान बना दिया था। जब प्रेमयोगी दूसरे स्कूल से आया, पहाड़ों का मौन और शहर की बेचैनी अपने भीतर लिए हुए, तो सविता ने उसे तुरंत देख लिया। उसमें कुछ ऐसा था जो उसे खींच रहा था – तीव्रता से नहीं, बल्कि स्थिर लय से, जैसे उसने किसी पुराने स्वर को नए रूप में पहचान लिया हो। वह उसे दूर से देखने लगी, बार-बार मुस्कुराती, बार-बार उसकी दृष्टि के क्षेत्र में आती। प्रेमयोगी ने सब देखा, पर उसने सामान्य प्रतिक्रिया नहीं दी। न उसने प्रोत्साहन दिया, न बचाव किया। वह बस स्वयं में स्थिर रहा, और वही शांत उपस्थिति उसके किसी भी कर्म से अधिक उसकी ओर आकर्षण को गहरा करती चली गई।

एक विद्यालयीय समारोह के दौरान, जब जोड़ी गतिविधियाँ घोषित हुईं, सविता ने बिना किसी झिझक के सभी को छोड़कर प्रेमयोगी को चुन लिया। वे दोनों ऐसे खड़े हुए जैसे वे

हमेशा से एक ही लय में चलना जानते हों। उनका प्रदर्शन सहज और स्वाभाविक था, और अध्यापकों तथा छात्रों – दोनों ने खुलकर उनकी प्रशंसा की। उस दिन उनके बीच कुछ अदृश्य शुरू हुआ, जिसे शब्दों की आवश्यकता नहीं थी। बाद में पढ़ाई और तैयारी के बहाने वे किताबें बदलने लगे। एक बार प्रेमयोगी ने उसे अपनी जीवविज्ञान की किताब दे दी – मानव शरीर के विस्तृत चित्रों वाली खुली मेडिकल पुस्तक। उसने यह पूरी मासूमियत से दिया, बिना किसी अर्थ के, पर उसके अवचेतन में यह निकटता का संकेत बन गया, लगभग एक प्रस्ताव जैसा। उस दिन के बाद उसकी भंगिमा, उसकी मुस्कान और उसकी उपस्थिति में हल्का सा बदलाव आया। बदलाव छोटा था, पर प्रेमयोगी ने उसे स्पष्ट महसूस किया। फिर भी वह वैसा ही रहा – खुला, बालसुलभ, सरल, सब से समान रूप से बात करने वाला, बिना किसी विशेष ध्यान, बिना शिकायत और बिना अधिकार के। यह दूरी आकर्षण को ठंडा नहीं करती थी; वह उसे और तीव्र बनाती थी। जब जागरूकता के साथ स्थान रखा जाता है, तो वही स्थान चुंबकत्व बन जाता है।

एक दिन भाग्य ने सविता को अपनी ही कृष्ण-जैसी शरारत का अवसर दिया। वे विज्ञान प्रयोगशाला में अकेले थे – यंत्रों और धूल भरी धूप से घिरी एक दुर्लभ शांति में। बिना कुछ कहे वह एक मेज़ पर लेट गई, छत की ओर देखते हुए, कुछ क्षण वहीं स्थिर रही। यह न निमंत्रण था, न अस्वीकृति; यह उपस्थिति की परीक्षा थी। प्रेमयोगी ने तुरंत समझ लिया। उसने कुछ नहीं किया। न पास गया, न दूर हटा। वह जहाँ था, वहीं रहा। पर भीतर कुछ असाधारण घटा। उसकी देह में उसकी हर सूक्ष्म गति, हर अनकहा कंपन भीतर की धारा को छू गया और उसकी कुंडलिनी हल्के से सहस्रार की ओर उठ गई, आनंद की लहर खोलती हुई। उसी स्थिरता में उसके दादा गुरु का चित्र जीवंत होकर प्रकट हुआ, जैसे मौन मार्गदर्शन दे रहा हो। पर बाहर से कोई संकेत नहीं था। उसका चेहरा शांत, अपरिवर्तित रहा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। सविता देखती रह गई। वह उसके संयम से नहीं, उसकी गहराई से चकित हुई। उसी क्षण उसका आकर्षण श्रद्धा में बदल गया। उसने समझ लिया कि यह लड़का साधारण खेल नहीं खेल रहा; वह अपने भीतर कुछ विराट धारण किए हुए है।

इस अवस्था ने प्रेमयोगी को एक ऐसा अनुशासन सिखाया, जो नियमों, भय या नैतिक दबाव से नहीं, बल्कि जीए हुए विवेक से आया था। उसने जाना कि दूरी अलगाव नहीं, बल्कि संरचना है, और इच्छा जब सात्त्विक पात्र में बहती है, तो पतन नहीं, जागरण बन जाती है। वह खेलता रहा, पर लापरवाह नहीं हुआ; खुला रहा, पर ढीला नहीं पड़ा; जुड़ा रहा, पर बँधा नहीं। अग्नि दीपक में रही और दीपक टूटा नहीं। यही कृष्ण जीवन का सबसे साधारण और सबसे दिव्य रूप था – न मिथक के रूप में, न उपदेश के रूप में, बल्कि जीवन को आनंद, जागरूकता और संतुलन से थामने की स्वाभाविक विधि के रूप में। इस चरण के अंत तक प्रेमयोगी के भीतर कुछ स्थायी रूप से स्थिर हो गया था। हृदय ने तीव्रता को स्वयं को खोए

बिना थामना सीख लिया था, और आगे का मार्ग, भले ही अज्ञात हो, अब एक ऐसे भीतरी अक्ष पर टिका था जिसे आसानी से हिलाया नहीं जा सकता था।

अध्याय 3: आकर्षण से जन्मी भक्ति

एक दिन, बिना किसी प्रयास के और बिना किसी घोषणा के, आकर्षण स्वयं भक्ति में बदल गया। न कोई अनुष्ठान हुआ, न कोई निर्णय, न कोई संकल्प और न ही कोई अचानक वैराग्य। बाहर से कुछ भी नाटकीय नहीं घटा, फिर भी भीतर कुछ ऐसा खिसक गया जो अब वापस नहीं लौट सकता था। जो कभी उत्तेजना था, वह धीरे-धीरे स्मरण बन गया और जो कभी लालसा थी, वह उपस्थिति जैसी लगने लगी। मन, जो पहले पल-पल भटकता था, अब स्थिर रहने में मधुरता खोजने लगा। एक ध्यान-चित्र स्वयं बन गया – न किसी विधि से, न अनुशासन से और न अभ्यास से, बल्कि स्थिर प्रेम से। प्रेमयोगी ध्यान करने नहीं बैठा; ध्यान उसके भीतर आकर बैठ गया।

इस समय तक बाहरी दूरी पहले ही बन चुकी थी। परिस्थितियाँ बदल गई थीं, रास्ते अलग हो गए थे और जीवन अपनी सामान्य गति से आगे बढ़ रहा था, भीतरी क्रांतियों से अनजान। लड़की अब उसके सामने नहीं थी। न कोई साझा स्थान था, न गुजरती हुई दृष्टियाँ और न ही उपस्थिति-दूरी का मौन खेल। फिर भी उसकी अनुपस्थिति ने खालीपन नहीं बनाया। उसने गहराई पैदा की। बाहरी रूप घुल गया, पर भीतरी रूप कई गुना बढ़ गया। जो कभी देह से जुड़ा था, वह अब अनेक रूपों, भावों और सूक्ष्म मूडों में प्रकट होने लगा, और सहज रूप से दैनिक जीवन में घुल गया। प्रेमयोगी चलता, बोलता, खाता, पढ़ता, बैठता, हँसता और काम करता रहता, पर इन सब साधारण गतियों के नीचे कुछ और लगातार बहता रहता – चुपचाप, अविरल, किसी भूमिगत नदी की तरह। यह साधारण स्मृति नहीं थी। यह कल्पना नहीं थी। यह फैंटेसी नहीं थी। यह बिना स्थान की उपस्थिति थी।

यहीं आकर्षण ने अपनी अंतिम सीमा पार की और भक्ति बन गया।
उस समय प्रेमयोगी इस शब्द को नहीं जानता था। उसने इसे कभी किसी पुस्तक में नहीं पढ़ा था, न मंदिर में सुना था। पर उसका शरीर, उसकी साँसें और उसका स्नायु-तंत्र इसे पूरी तरह समझते थे। भीतर की संगिनी अब मन की बनाई हुई छवि नहीं रही। वह एक जीवित क्षेत्र बन गई, जिसके भीतर मन विश्राम करने लगा। जब वह बाहर नहीं थी, तब भीतर और भी अधिक जीवित थी। जब वह शारीरिक रूप से दूर हुई, तब और अधिक वास्तविक हो गई। यही वह विरोधाभास था, जिसने पहले उसे भ्रमित किया। दूरी से निकटता कैसे बढ़ सकती है? अनुपस्थिति से पूर्णता कैसे आ सकती है?

फिर भी वही घटा।
स्मरण ने उसके काम में बाधा नहीं डाली। उसने जीवन से उसे अलग नहीं किया। वह सब में घुल गया। सड़कों पर चलते समय वह उसके भीतर चलती थी। कक्षा में बैठते समय वह उसके मौन में बैठती थी। खाते समय वह उसी के माध्यम से स्वाद लेती थी। मित्रों के साथ

हँसते समय वह भीतर से मुस्कुराती थी। भीतर और बाहर के जीवन में कोई संघर्ष नहीं रहा। यह पलायन नहीं था, यह विस्तार था। यह भागना नहीं था, यह समावेश था। संसार वैसा ही चलता रहा, पर उसमें कुछ पवित्र प्रवेश कर गया था।

अजीब-अजीब समाधियाँ बिना चेतावनी के घटने लगीं। वह साधारण काम कर रहा होता और अचानक मन स्थिर हो जाता – बल से नहीं, मधुरता से। समय बिना रोके ही रुक जाता। विचार धीमे पड़ते, फिर घुल जाते – हिंसक रूप से नहीं, बल्कि धूप में धुंध की तरह। शरीर सक्रिय रहता, पर भीतर वह अचल होता। वह लोगों की आवाज़ सुन सकता था, वस्तुएँ देख सकता था, सामान्य रूप से उत्तर दे सकता था, फिर भी उसके अस्तित्व का केंद्र कहीं और विश्राम कर रहा होता, अछूता। ऐसा लगता जैसे दो जीवन एक साथ चल रहे हों – एक संसार में और एक उसके पार – और कोई दूसरे को बाधित नहीं करता। यह समाधि ध्यान जैसी नहीं दिखती थी। न आँखें बंद होती थीं, न रीढ़ सीधी, न श्वास का नियंत्रण। यह चलते, खड़े, पढ़ते और बोलते समय घटती थी। जीवन स्वयं ध्यान बन गया था।

कभी यह भीतर की उपस्थिति कोमलता बनकर आती। कभी टीस बनकर। कभी हृदय में फैलती ऊष्मा बनकर। कभी सिर में दबाव बनकर। कभी बिना दुःख के आँसू बनकर। कभी बिना कारण की हँसी बनकर। रूप बदलते रहते थे, बादलों की तरह, पर तत्व वही रहता था। यह बिना प्रयास का स्मरण था। यह बिना माँग का प्रेम था। यह बिना तनाव का ध्यान था।

धीरे-धीरे प्रेमयोगी समझने लगा कि अब यह किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण नहीं रहा। यह एक अवस्था के प्रति आकर्षण बन गया था। लड़की एक द्वार थी, और अब द्वार घुल चुका था, केवल आकाश शेष था। मन अब उससे कुछ नहीं चाहता था। वह केवल जहाँ था वहीं रहना चाहता था – और यह रहना प्रयासरहित था। प्रयास उसी दिन समाप्त हो गया था, जिस दिन स्मरण इच्छा से अधिक मधुर हो गया था।

यही है वास्तविक जीवन में भक्ति का जन्म, यद्यपि शास्त्र इसे इस तरह कम ही बताते हैं। भक्ति विश्वास से नहीं पैदा होती। वह ईश्वर-भय से नहीं आती। वह अनुशासन या आज्ञाकारिता से नहीं उपजती। वह निरंतर रस से जन्म लेती है। जब रस को बिना गिराए थामा जाता है, जब आकर्षण को अधिकार में बदलकर खाली नहीं किया जाता, जब लालसा को मारा नहीं जाता बल्कि पकने दिया जाता है, तब वह भक्ति में बदल जाती है। वस्तु मिट जाती है और जो बचता है, वह बिना दिशा का प्रेम होता है। नदी समुद्र में पहुँचकर भूल जाती है कि वह कभी नदी थी।

प्रेमयोगी ने इसे न ध्यान कहा, न भक्ति और न ही आध्यात्मिक। वह केवल इतना जानता था कि मन ने मधुरता में विश्राम पा लिया है और यह मधुरता परिस्थितियों पर निर्भर नहीं है। वह अच्छे दिनों में भी थी और बुरे दिनों में भी, शोर वाले दिनों में भी और मौन वाले

दिनों में भी, सफलता के दिनों में भी और भ्रम के दिनों में भी। यहाँ तक कि क्रोध, थकान या खो जाने के समय भी वह बनी रहती थी। यही उसकी वास्तविकता का प्रमाण था। साधारण भाव आते-जाते हैं, यह ठहरी रही।

दैनिक जीवन चलता रहा। वह स्कूल गया, घर लौटा, परिवार से बात की, लोगों से मिला और सबकी तरह जीवन जीता रहा। पर कुछ स्थायी रूप से खिसक चुका था। भीतर का केंद्र बदल गया था। पहले मन बाहर खोज रहा था – लोगों, स्थानों और क्षणों को छूकर यह आशा करते हुए कि कुछ उसे पूरा कर देगा। अब खोज बिना किसी घोषणा के समाप्त हो गई थी। पूर्णता चुपचाप घट गई थी। वही संसार था, पर अब उसमें उसे हिलाने की शक्ति नहीं रही थी।

सबसे रहस्यमय बात यह थी कि इस भक्ति का कोई नाम नहीं था, कोई दिशा नहीं थी, कोई देवता नहीं था और कोई चित्र नहीं था। यह बिना वस्तु की भक्ति थी। भीतर की संगिनी अब चेहरा नहीं रही, रूप नहीं रही, व्यक्तित्व नहीं रही। वह उपस्थिति बन गई थी। कभी वह माँ जैसी कोमलता बनकर आती, कभी प्रेमिका की ऊष्मा बनकर, कभी मित्र की संगति बनकर और कभी शुद्ध मौन बनकर। मन ने पूछना छोड़ दिया कि यह क्या है। वह केवल रहना जान गया था।

यह कल्पना नहीं थी। कल्पना बदलती है, थकती है। यह और गहरी होती चली गई। उपेक्षा करने पर भी मजबूत होती गई और भूलने पर भी स्पष्ट होती गई। जब वह सामान्य होने की कोशिश करता, तब भी यह बनी रहती। जब वह भूलना चाहता, तब भी यह भूल के पीछे मुस्कुरा देती। यही सच्ची भक्ति का लक्षण है – वह ध्यान नहीं माँगती, वह केवल होती है।

बाद में, जब प्रेमयोगी ने शास्त्र पढ़े, तो उसने इस अवस्था को तुरंत पहचान लिया। उसने देखा कि संतों और योगियों ने इसे कई रूपों में बताया है, पर शायद ही कभी जीए हुए अनुभव की सादगी से। उन्होंने स्मरण, नाम, अंतर्देवता, इष्ट, प्रार्थना बनते प्रेम की बात की थी, पर जब यह घटा, तब कोई शब्द उपस्थित नहीं था। यह स्वाभाविक रूप से घटा था, जैसे ऋतु आने पर फल पक जाता है।

यह अध्याय उस क्षण को चिन्हित करता है जब आकर्षण ने अपनी यात्रा पूरी की। वह समाप्त नहीं हुआ; रूपांतरित हो गया। वह गायब नहीं हुआ; गहरा हो गया। उसने बाँधा नहीं; मुक्त कर दिया। वही ऊर्जा जो कभी एक लड़की की ओर जाती थी, अब अस्तित्व के केंद्र की ओर बहने लगी। वही लालसा जो कभी निकटता खोजती थी, अब स्थिरता में घुल गई। वही रस जो कभी सतह पर नाचता था, अब विचारों के नीचे एक मौन नदी की तरह बहने लगा।

यह कृष्ण जीवन का तीसरा द्वार था – सबसे गुप्त – जहाँ प्रेम बिना शब्दों की प्रार्थना बन जाता है, जहाँ स्मरण बिना विधि का ध्यान बन जाता है और जहाँ भक्ति मंदिरों में नहीं, बल्कि साधारण जीवन के बीच जन्म लेती है। प्रेमयोगी को तब यह पता नहीं था, पर यही भक्ति आगे आने वाले सब कुछ की आधारशिला बनेगी। यही उसकी योग साधना को सहारा देगी, ऊर्जा के उठने पर उसकी रक्षा करेगी, जागरण के समय मन को कोमल बनाएगी और उसे कठोर या सूखा होने से बचाएगी। यही वह मधुरता होगी जो शक्ति को संतुलित करेगी, वही प्रेम जो ज्ञान को संतुलित करेगा और वही भक्ति जो स्वतंत्रता को संतुलित करेगी।

और इस प्रकार अध्याय तीन किसी उपलब्धि पर नहीं, किसी साक्षात्कार पर नहीं, किसी प्रबोधन पर नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक मूल्यवान और स्थायी वस्तु पर समाप्त होता है – ऐसा हृदय जो बिना प्रयास स्मरण करना सीख चुका है, ऐसा मन जो बिना नियंत्रण विश्राम करना सीख चुका है और ऐसा जीवन जो चुपचाप प्रार्थना बन गया है, बिना स्वयं को धार्मिक कहे।

अध्याय 4: गोपी समाधि

जैसे-जैसे स्मरण गहराता गया, संसार बिना किसी प्रयास के फीका पड़ने लगा। कुछ भी ठुकराया नहीं गया और कुछ भी हटाया नहीं गया, फिर भी बाहरी जगत की पकड़ धीरे-धीरे ढीली होती चली गई। प्रेमयोगी पढ़ रहा हो, चल रहा हो, अकेला बैठा हो या रोज़मर्रा के साधारण काम कर रहा हो – भीतर वही एक जीवंत उपस्थिति स्थिर रूप से चमकती रहती, चित्र की तरह नहीं, बल्कि सजीव सत्ता की तरह। विचार स्वाभाविक रूप से कमजोर होने लगे, जैसे समुद्र के पास पहुँचते ही नदी संकरी हो जाती है। समय पतला होने लगा, फैलने लगा और कभी-कभी पूरी तरह गायब हो जाता। आनंद उत्तेजना की तरह नहीं, बल्कि एक मौन पूर्णता की तरह फैलने लगा, जिसे व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं थी। अब वह स्मरण की ओर नहीं जा रहा था; स्मरण उसके भीतर से बह रहा था। यह न ट्रांस था, न पलायन। यह गोपी समाधि थी – वह अवस्था जहाँ ध्यान स्वयं को भूल जाता है और प्रिय की ओर एक निरंतर प्रवाह बन जाता है।

इसी अवस्था में प्रेमयोगी ने वह सीखा जो कोई पुस्तक नहीं सिखा सकती – समाधि हमेशा मौन से नहीं जन्मती। कभी-कभी वह प्रेम से जन्मती है। जब प्रेम इतना पूर्ण हो जाता है कि प्रेमी ही मिट जाता है, तब जो बचता है वह स्थिरता होती है, पर वह शून्यता नहीं होती, वह ऊष्मा से भरी होती है। वृंदावन की गोपियों ने कृष्ण को पाने के लिए आँखें बंद नहीं की थीं; उन्होंने स्मरण करते-करते स्वयं को भुला दिया था। उसी प्रकार प्रेमयोगी का मन संसार से हटकर नहीं गया, बल्कि एक ही अविरल ध्यान-धारा में घुल गया, जो बिना रुके बहती रही। प्रिय न बाहर थी, न भीतर, न पास और न दूर – वह गति स्वयं थी। जो भी विचार उठना चाहता, बनने से पहले ही गल जाता। जो भी इच्छा प्रकट होती, भक्ति में बदल जाती। हर भाव जागरूकता में कोमल हो जाता।

बाहरी दूरी तो बहुत पहले पूरी हो चुकी थी, पर भीतर अब पूर्ण मिलन घट रहा था। जो लड़की कभी रूप में प्रकट हुई थी, अब क्षेत्र बन चुकी थी, और वह क्षेत्र इतना फैल गया कि सब कुछ उसमें समा गया। यही गोपी समाधि का रहस्य है – प्रेम की वस्तु मिट जाती है और प्रेम बिना दिशा के रह जाता है। मन किसी छवि को नहीं पकड़ता; वह स्वयं छवि बन जाता है। हृदय किसी व्यक्ति को नहीं स्मरण करता; वह अस्तित्व को स्मरण करता है। और उस स्मरण में स्मरण का भाव भी मिट जाता है।

इसी अवस्था में प्रेमयोगी के जीवन की सबसे असाधारण घटना घटी – न किसी योजना से, न योग से, न ध्यान से, बल्कि एक स्वप्न-जैसी जाग्रत अवस्था में, जो जाग्रत जीवन से भी अधिक वास्तविक थी। एक रात उसने स्वयं को घाटी में एक नदी पर बने पुल पर खड़ा पाया, अपने घर से लगभग एक किलोमीटर दूर। स्थान परिचित था, पर अनुभव बिल्कुल

नया। अचानक, बिना चेतावनी के, उसने स्वयं को पूरी तरह खुला पाया। आनंद केवल मानसिक तरंगों की तरह नहीं उठा; वह मन से आगे फैल गया और उसके अस्तित्व के उन अंधेरे भागों को भर गया जिन्होंने कभी प्रकाश नहीं देखा था। उसे लगा जैसे चेतना स्वयं फैल गई है और अब बिना किसी रुकावट के उसके माध्यम से चमक रही है।

उसने नीचे झुककर पुल के नीचे बहती नदी को देखा। नदी वैसी ही थी जैसी हमेशा रही थी – वही आकार, वही प्रवाह, वही ध्वनि – पर अब वह केवल नदी नहीं रही थी। वह पुल, नदी और उसका स्वयं का चेतन अस्तित्व एक ही वास्तविकता के रूप में प्रकट हो रहे थे। देखने वाला और देखा गया अलग नहीं थे। पुल भौतिक रूप से पुल था, पर आध्यात्मिक रूप से वह नदी से अलग नहीं था, और नदी उससे अलग नहीं थी। फिर उसने बाईं ओर पर्वत की ढलान देखी। वहाँ कभी भारी बारिश के बाद भूस्खलन हुआ था, जिससे लगभग बीस मीटर की कच्ची धरती खुल गई थी और आधी नदी रुक गई थी। उसी क्षण उसने वही दृश्य देखा – बाहरी रूप में अपरिवर्तित, पर अर्थ में पूरी तरह बदला हुआ। खुली धरती, वनस्पति, ढलान और रिक्त स्थान – सब जीवित थे, सब चेतन थे, सब एक थे, और सब वही उपस्थिति थे जो नदी में और उसके भीतर बह रही थी। फिर उसने ऊपर आकाश में महान सूर्य को देखा। वह सबकी तरह ही चमक रहा था, पर उसकी चमक किसी और से अधिक नहीं थी। नदी, पर्वत, पुल, सूर्य और उसका स्वयं का अस्तित्व – सबमें समान प्रकाश था, समान जीवन था, समान चेतना थी। कुछ भी ऊँचा नहीं था और कुछ भी नीचा नहीं था।

यह पूरा अनुभव कुछ ही क्षणों का था – शायद पाँच या दस सेकंड का – पर उन क्षणों में उसने अनंतता जी ली। आनंद असीम था। प्रकाश अंतहीन था। ज्ञान पूर्ण था। शांति सम्पूर्ण थी। खुलापन पूर्ण था। उसे लगा जैसे वह ब्रह्मांड का राजा है, या ठीक कहें तो स्वयं ब्रह्मांड ही स्वयं को देख रहा है। न कोई भय था, न कोई इच्छा, न कोई खोज, न कोई कमी। दिन और रात किसी अनजानी तरह एक हो गए थे, प्रकाश और अंधकार विरोध नहीं रहे, बल्कि एक-दूसरे को आलिंगन कर रहे थे। प्रेम और घृणा बिना संघर्ष के साथ-साथ उपस्थित थे। वही चेतना शुद्ध के लिए आशीर्वाद थी और विभाजित के लिए भय। जो कुछ भी अनुभव किया जा सकता था, वह एक साथ अनुभव हो गया। स्थान और समय, जो कभी विशाल लगते थे, अब अनंत चेतना के सागर में छोटी लहरों जैसे प्रतीत हो रहे थे। मन की तरंगें उस सागर पर उठती छोटी लहरों जैसी थीं – सुंदर, पर तुच्छ। उसने बिना सोचे जान लिया कि यही मन-ऊर्जा, चेतन-प्रकाश और आनंद की सर्वोच्च सीमा है। इससे आगे कुछ कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सुबह जब वह जागा, तो किसी स्वप्न से लौटे व्यक्ति की तरह नहीं, बल्कि एक लंबी यात्रा के बाद घर लौटे प्राणी की तरह जागा। वह पूर्ण, संतुष्ट, समाप्त और तृप्त महसूस कर रहा था। जैसे किसी जन्म में कुछ भी और पाने को शेष न हो। वह पूरे दिन बालसुलभ सरलता

के साथ चला – बिना तनाव, बिना आकांक्षा, शांति और आनंद में, जीवन के साथ स्वतः बहता हुआ। अच्छा बनने का कोई प्रयास नहीं था, फिर भी अच्छाई स्वाभाविक रूप से बह रही थी। आध्यात्मिक होने का कोई प्रयास नहीं था, फिर भी सब कुछ पवित्र लग रहा था। वह सामाजिक था, फिर भी भीतर से मुक्त था। वह मनुष्य था, फिर भी मानवीय उलझनों से अछूता। वह अहंरहित था, व्यक्तित्व-रहित था, फिर भी पूर्णतः जीवित, उज्ज्वल, आकर्षक, मोहक और ऊष्मा से भरा हुआ। उसकी उपस्थिति शांति ले आती थी और उसका मौन अधिकार लिए हुए था। उसे ऐसा लगता था जैसे प्रकृति स्वयं उसे चला रही है, सहजता और किसी अदृश्य बुद्धि के माध्यम से, जो असंख्य जन्मों से उसका मार्गदर्शन करती आई थी, बिना कभी दिखाई दिए।

लगभग तीन वर्षों तक इस अनुभव के बाद दिव्य गुण बिना प्रयास के प्रकट होते रहे। इच्छा शुद्ध प्रेम में बदल चुकी थी। क्रोध स्पष्टता में घुल गया था। लोभ संतोष में विलीन हो गया था। गर्व कृतज्ञता में पिघल गया था। ईर्ष्या के पास खड़े होने की कोई भूमि नहीं थी। उसका मन एकाग्र, तीक्ष्ण और शक्तिशाली था, फिर भी कोमल और करुणामय। वह कम बोलता था, कुछ भी निर्णय नहीं करता था और बिना विश्लेषण के बहुत कुछ समझ जाता था। कभी-कभी वह लोगों के बारे में बातें जान लेता था, बिना यह जाने कि उसे कैसे पता चला। कभी वह घटनाओं की दिशा पहले ही देख लेता था। उसकी ऊर्जा ऊँची थी, शरीर हल्का था, उपस्थिति आकर्षक थी और हृदय पूर्ण था। गुरु और संगिनी के तांत्रिक चित्र भीतर निरंतर चमकते रहते थे – कल्पना नहीं, बल्कि एकता के जीवित प्रतीक के रूप में। सांसारिक कामुकता एक गहरे, स्थिर, केंद्रित प्रेम में बदल चुकी थी, जो अभिव्यक्ति नहीं माँगता था, केवल मौन में विकिरण करता था।

यह अवस्था सदा नहीं रही। उस झलक की स्मृति धीरे-धीरे फीकी पड़ने लगी और उसके साथ ही उन दिव्य गुणों की सहज अभिव्यक्ति भी। धीरे-धीरे सामान्य मन-आकृतियाँ लौटने लगीं, यद्यपि पहले जैसी कभी नहीं हुईं। सागर पीछे हट गया, पर तट सदा के लिए बदल चुका था। उस अवस्था का स्वाद गहराइयों में छिपा रह गया – प्रतीक्षा करता, मार्गदर्शन करता और आगे के हर चरण को आकार देता हुआ। पर उसके मिटने में भी गोपी समाधि का सत्य अब अपरिवर्तनीय हो चुका था। प्रेमयोगी ने जान लिया था कि प्रेम, जब बिना टूटे टिक जाता है, समाधि बन जाता है, और समाधि, जब प्रेम से जन्मती है, एक ऐसी सुगंध छोड़ जाती है जो कभी पूरी तरह मिटती नहीं।

यह कृष्ण जीवन का चौथा द्वार था – जहाँ भक्ति तल्लीनता में घुल जाती है, जहाँ स्मरण पहचान बन जाता है और जहाँ प्रिय स्वयं अस्तित्व में विलीन हो जाता है। यह अभ्यास से प्राप्त नहीं हुआ, न प्रयास से टिकाया गया और न स्मृति से सुरक्षित रखा गया। यह स्वाभाविक रूप से आया, जैसे सही ऋतु में फूल खिलता है, और स्वाभाविक रूप से चला

गया, जैसे समय पूरा होने पर पंखुड़ियाँ गिर जाती हैं। फिर भी उसका सार बना रहा, चुपचाप आगे के मार्ग को आकार देता हुआ। इस बिंदु के बाद प्रेमयोगी कभी भी केवल सतह पर जीवन नहीं जी सका। उसने एक बार गहराई देख ली थी, और भले ही वह भूल गई हो, वह भीतर से उसे बुलाती रहती थी, याद दिलाती रहती थी कि सर्वोच्च समाधि प्रेम के बिना मौन नहीं है, बल्कि वह प्रेम है इतना पूर्ण कि उसमें मौन भी घुल जाता है।

अध्याय 5: स्वाभाविक वापसी

कृष्ण जीवन अपने स्वभाव से ही सदा नहीं टिक सकता। वह एक ऐसी लौ है जो तेज़, पूर्ण और उज्ज्वल होकर जलती है। वह जीवन की स्थायी संरचना बनने के लिए नहीं, बल्कि एक मार्ग, एक परिष्कार और एक रूपांतरण के लिए होती है। जैसे-जैसे किशोरावस्था समाप्त होने लगी और वयस्कता निकट आई, प्रेमयोगी ने महसूस किया कि तीव्रता स्वयं ही धीरे-धीरे कम हो रही है। इसमें न कोई संघर्ष था, न उसे थामे रखने का प्रयास, और न खो देने का भय। आकर्षण शांत होकर कम होने लगा, जैसे समतल भूमि पर पहुँचते ही नदी का प्रवाह धीमा हो जाता है। भीतर का चित्र नरम पड़ गया – उसमें पहले जैसी तीक्ष्ण चमक नहीं रही, पहले जैसा आग्रह नहीं रहा। वह ऊर्जा, जो वर्षों तक नाचती रही थी, अब किसी और दिशा की तलाश करने लगी। इस बदलाव में कोई उदासी नहीं थी। इसमें केवल तैयारी थी। जो सीखना था, सीख लिया गया था। जो परिष्कृत होना था, हो चुका था। रस अपना कार्य पूरा कर चुका था।

यह वापसी गिरावट नहीं थी, हानि नहीं थी और असफलता भी नहीं थी। यह पूर्णता थी। जैसे बचपन का खेल ज़िम्मेदारी के जागने पर स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाता है, जैसे पहला प्रेम परिपक्वता आने पर घुल जाता है, वैसे ही कृष्ण जीवन अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद विदा हो गया। प्रेमयोगी ने इसका शोक नहीं किया, क्योंकि उसके भीतर कुछ जानता था कि फूल भले ही गिर जाए, उसकी सुगंध बनी रहती है। और वह सुगंध बनी रही – चुपचाप, अदृश्य रूप से – आगे आने वाले वर्षों में उसका मार्गदर्शन करती हुई।

वह ध्यान-चित्र, जो आकर्षण से जन्मा और भक्ति में परिष्कृत हुआ था, उसका अदृश्य रक्षक बन गया। उसने उसे उन अनगिनत जालों से बचाया, जो सामान्य जीवनों को निगल लेते हैं। उसने उसे अश्लीलता से, अंधे मोह से, विनाशकारी आसक्ति से, अति-भोग से, गलत संगति से और उन आदतों से बचाया जो धीरे-धीरे भीतरी स्पष्टता को नष्ट कर देती हैं। चिकित्सा अध्ययन के लंबे वर्षों में, संघर्ष, थकान और दबाव के बीच वह चित्र शांत रूप से उपस्थित रहा। उसने उसे विचलित नहीं किया, पर कभी छोड़ा भी नहीं। जब प्रलोभन आया, उसने उसे कोमल बना दिया। जब भटकाव आया, उसने उसे आत्मसात कर लिया। जब एकांत आया, उसने उसे भर दिया। वह नियंत्रण की शक्ति नहीं था, वह संतुलन की शक्ति था। जब वह निजी अभ्यास में गया, स्व-रोज़गार से गुज़रा और बाद में सरकारी सेवा में आया, तब भी वह भीतरी उपस्थिति पृष्ठभूमि में चुपचाप काम करती रही – बिना नियमों के, बिना भय के और बिना अपराधबोध के उसे संतुलित रखती हुई।

जैसे रुक्मिणी से विवाह के बाद भी राधा कृष्ण के हृदय में बनी रही, वैसे ही विवाह के बाद भी भीतर की संगिनी प्रेमयोगी में बनी रही। विवाह ने कृष्ण अवस्था को तोड़ा नहीं, केवल

उसके रूप को बदल दिया। प्रेम अधिक स्थिर हो गया, अधिक शांत हो गया, कम तीव्र लेकिन अधिक भरोसेमंद। जो ऊर्जा पहले चमकती ज्वालाओं की तरह जलती थी, अब अंगारों की तरह चमकने लगी – जलाने की बजाय ऊष्मा देने वाली। वह चित्र अब सजीव उपस्थिति की तरह नहीं दिखता था, फिर भी वह हृदय की एक सूक्ष्म दिशा बनकर बना रहा, जो उसे अंधकार की ओर भटकने से रोकती रही। बहुत से लोग जीवन के भारी होने पर स्वयं को खो देते हैं – जब ज़िम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं, जब इच्छाएँ नए रूप ले लेती हैं और जब महत्वाकांक्षा मासूमियत को ढक लेती है। प्रेमयोगी स्वयं को नहीं खो पाया, इसलिए नहीं कि वह मजबूत था, बल्कि इसलिए कि कृष्ण अवस्था पहले ही उसका परिष्कार कर चुकी थी।

वर्ष बीतते गए। जीवन खुलता गया। कर्तव्य बढ़ते गए। भूमिकाएँ कई हो गईं। और धीरे-धीरे, लगभग बिना ध्यान आए, एक नई तरह की ऊब भीतर उभरने लगी। यह जीवन से ऊब नहीं थी, बल्कि भीतर की एक विशेष कोमलता से ऊब थी। वह स्त्री-स्वर, जो इतने वर्षों तक ध्यान-चित्र के माध्यम से भीतर जीवित रहा था, अब सीमित लगने लगा। जो कोमलता कभी उसे बचाती थी, अब ऐसा लगने लगा जैसे वह उसे किसी और, गहरे और मजबूत स्तर पर जाने से रोक रही हो। मन, जो मिठास में जीता था, अब शक्ति खोजने लगा। हृदय, जो भक्ति में जीता था, अब संरचना खोजने लगा। जो ऊर्जा वर्षों तक नाची थी, अब निर्माण करना चाहती थी। यह अगले चरण का संकेत था, यद्यपि उस समय वह इसे नहीं जानता था।

जैसे ही भीतर का चित्र पर्याप्त रूप से धुंधला हुआ – पूरी तरह नहीं, पर इतना कि स्थान खाली हो सके – कुछ और ऊपर उठने लगा। दादा गुरु का चित्र, जो पहले आनंद और समाधि के क्षणों में प्रकट हुआ था, अब भीतर के आकाश को घेरने लगा। प्रेमयोगी के आंतरिक जीवन का स्वर स्त्री से पुरुष की ओर, बहाव से दृढ़ता की ओर और मिठास से तीक्ष्णता की ओर बदल गया। उसकी मानसिक पहचान बदलने लगी। वह अधिक स्थिर, अधिक निर्देशित और अधिक केंद्रित हो गया। एकांत अब अलग तरह से अनुभव होने लगा। उसमें अब विरह नहीं, शक्ति थी। ऋतंभरा – सत्य को धारण करने वाली अंतःप्रज्ञा – उसके भीतर का स्थान लेने लगी। उसका जीवन भीतर से स्वयं संगठित होने लगा – आकर्षण के चारों ओर नहीं, उद्देश्य के चारों ओर। तांत्रिक जीवन-शैली, जो पहले कोमल थी, अब स्वयं-प्रेरित, अनुशासित और तीव्र होने लगी, फिर भी बाहरी दुनिया से अदृश्य ही रही।

यही शक्ति अवस्था की वास्तविक शुरुआत थी, यद्यपि उसे पूर्ण रूप से खुलने में वर्षों लगने थे। कृष्ण जीवन ने हृदय को परिष्कृत किया था। अब शक्ति जीवन रीढ़ को गढ़ेगा। रस अवस्था ने इच्छा को कोमल बनाया था। अब ऊर्जा को एकत्र किया जाएगा, दिशा दी जाएगी और ऊपर उठाया जाएगा। कृष्ण अवस्था की वापसी आवश्यक थी, जैसे फल बनने के लिए

पंखुड़ियों का गिरना आवश्यक होता है। यदि फूल स्वयं से चिपका रहे, तो फल नहीं बनता। यदि रस अवस्था स्वयं से चिपकी रहे, तो शक्ति जन्म नहीं लेती।

पीछे मुड़कर देखने पर प्रेमयोगी समझ पाया कि कुछ भी व्यर्थ नहीं गया। हर चरण सही समय पर आया और सही समय पर गया। बचपन का खेल, किशोरावस्था का आकर्षण, युवावस्था की भक्ति, प्रेम की समाधि और मिठास की वापसी – सब एक ही बुद्धिमान गति के अंग थे। जीवन स्वयं उसका गुरु था और कृष्ण जीवन उसका सबसे सुंदर पाठ। उसने उसे सिखाया कि जीवन को हल्के से कैसे छूना है, अधिकार के बिना कैसे प्रेम करना है, प्रयास के बिना कैसे स्मरण करना है और पीड़ा के बिना कैसे लौटना है।

यह अध्याय कृष्ण जीवन को समाप्त करता है, पर उसके प्रभाव को नहीं। उसकी सुगंध सदा प्रेमयोगी के अस्तित्व की पृष्ठभूमि में बनी रहती है – उसकी शक्ति को कोमल करती हुई, उसके अनुशासन को गरमाहट देती हुई और उसकी ऊर्जा को मानवीय बनाती हुई। इस अवस्था के बिना शक्ति कठोर हो जाती। इसके बिना अनुशासन सूखा होता। इसके बिना ऊर्जा खतरनाक होती। कृष्ण जीवन ने उसे शक्ति के लिए सुरक्षित बना दिया।

और इस प्रकार लौ मंद हुई – इसलिए नहीं कि तेल समाप्त हो गया था, बल्कि इसलिए कि उसका कार्य पूरा हो गया था। प्रकाश मिटा नहीं; भीतर चला गया। नृत्य समाप्त हुआ, पर लय बनी रही। आकर्षण मिट गया, पर भक्ति कोशिकाओं की स्मृति बनकर रह गई। चित्र घुल गया, पर उसकी छाप हर कदम का मार्गदर्शन करती रही। यह अंत नहीं था। यह हस्तांतरण था। कृष्ण की मिठास से जीवन अब उसे शक्ति के हाथों में सौंप रहा था, जहाँ वास्तविक निर्माण आरंभ होना था।

पुस्तक भाग-2: सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव: शक्ति का जागरण और भीतर की दुर्गा यात्रा

विषय सूचि

अध्याय 1: शक्ति का जागरण - चेतना की स्त्री-धारा में प्रवेश

(शक्ति जागरण अनुभव, भीतरी स्त्री ऊर्जा, आध्यात्मिक जीवन में दुर्गा अवस्था)

- कृष्ण अवस्था से शक्ति अवस्था में स्वाभाविक संक्रमण
- विश्वविद्यालय जीवन के दौरान पाँच वर्षों की निरंतर शक्ति साधना
- भीतरी स्त्रीत्व की खोज: कोमलता, संवेदनशीलता और भक्ति
- क्यों शक्ति जागरण भावुकता नहीं, बल्कि उच्च बुद्धि है
- कैसे भीतरी स्त्री चेतना आध्यात्मिक विकास को स्थिर करती है
- शक्ति – आगे के साहस और कर्म की छिपी हुई इंजन

अध्याय 2: भीतर की दुर्गा - घृणा बिना साहस, हिंसा बिना शक्ति

(SEO: दुर्गा ऊर्जा अनुभव, सात्त्विक साहस, आध्यात्मिक वीरता)

- मानव जीवन में दुर्गा का कार्य
- अधर्म से लड़ना बिना क्रूरता, प्रतिशोध और अहंकार के
- सात्त्विक, अहिंसक, रणनीतिक और विधिसम्मत कर्म – सच्चा दुर्गा पथ
- कैसे शक्ति भय को स्पष्टता में बदलती है
- अहंकारी आक्रामकता और दिव्य साहस में अंतर
- परिवार, समाज और उत्तरदायित्वों में दुर्गा को जीना

अध्याय 3: जीवित आंतरिक संगिनी - ध्यान-चित्र से चेतन उपस्थिति तक

(SEO: आंतरिक संगिनी ध्यान, राधा-कृष्ण आंतरिक अनुभव, भीतर की दिव्य स्त्री शक्ति)

- कैसे ध्यान-चित्र परिपक्व होकर जीवित उपस्थिति बना
- आंतरिक संगिनी साधना का मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पक्ष
- रुक्मिणी के साथ सांसारिक जीवन में रहते हुए भी कृष्ण के भीतर राधा का वास
- मन मंदिर के रूप में: शारीरिक निर्भरता बिना उपस्थिति को स्थिर रखना
- क्यों यह कल्पना नहीं, बल्कि स्थिर भीतरी वास्तविकता है
- आंतरिक उपस्थिति को जीवंत बनाने में भक्ति की भूमिका

अध्याय 4: ह्लादिनी शक्ति का मानवीय अनुभव - स्मरण से जन्मा आनंद

(SEO: ह्लादिनी शक्ति अनुभव, भक्ति से उत्पन्न आध्यात्मिक आनंद, ध्यान में आनन्द)

- ह्लादिनी शक्ति को भीतर की आनंद-चेतना के रूप में समझना
- बिना प्रयास के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुआ स्थायी आनंद
- निरंतर स्मरण – दोहराव नहीं, बल्कि जीवित अभ्यास
- प्रत्यक्ष अनुभव में शास्त्रीय मानचित्रों की पहचान
- क्यों यह कोई दिव्य दावा नहीं, बल्कि सनातन विज्ञान की पुष्टि है
- आनंद: उन्माद नहीं, स्थिरता; उत्तेजना नहीं, पूर्णता

अध्याय 5: बल नहीं, समन्वय - दैनिक जीवन में कृपा कैसे काम करती है

(SEO: आध्यात्मिक जीवन में दिव्य सहायता, प्रयास बनाम कृपा, साधना में समन्वय)

- क्यों प्रगति संघर्ष से नहीं, समन्वय से हुई
- मानव विकास में दिव्य सहायता की मौन भूमिका
- विवाह और पत्नी का सहयोग – शक्ति की निरंतरता के रूप में
- भीतर की उपस्थिति खोए बिना सांसारिक जीवन जीना
- कैसे शक्ति धर्म, परिवार और उत्तरदायित्वों को साथ संभालती है
- अगले जागरण चरण के लिए भूमि तैयार करना

पुस्तक भाग-2: सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव: शक्ति का जागरण और भीतर की दुर्गा यात्रा

अध्याय 1: शक्ति का जागरण - चेतना की स्त्री धारा में प्रवेश

शक्ति का जागरण किसी पुस्तक से सीखा हुआ पाठ नहीं था, न किसी गुरु से प्राप्त मंत्र। वह वैसे ही आया जैसे जीवन आता है – चुपचाप, स्वाभाविक रूप से, और फिर एक साथ सब कुछ बदलते हुए। विश्वविद्यालय के वर्षों में, जब कृष्ण अवस्था की चमक अभी भी पृष्ठभूमि में डूबते सूर्य की तरह मौजूद थी, अनुभव की गहराइयों से कुछ नया उठने लगा। शुरुआत में यह केवल जीवन के स्वर में हल्का सा बदलाव था, उपस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया का नया ढंग। कृष्ण की खेलती हुई रोमांटिकता, जो निकटता, सौंदर्य और भीतरी मिलन से बनी थी, अब अनुपस्थिति, संघर्ष और ज़िम्मेदारी के दबाव में बदलने लगी। जो कभी मिठास था, वह अब शक्ति माँगने लगा। जो कभी अंतरंगता थी, वह अब साहस चाहने लगी। यह बाहर से देखने पर पतन लग सकता था, पर भीतर यह उसी नदी का नया मोड़ था, जो एक अलग भू-दृश्य में प्रवेश कर रही थी। उपस्थिति में कृष्ण प्रेम बनता है, अनुपस्थिति में वही प्रेम दुर्गा बन जाता है – तीव्र और रक्षक। यह एक जीवन से दूसरे जीवन में जाना नहीं था, बल्कि सभी जीवनों का एक साथ मिलना था, जहाँ एक नया अनुपात ऊपर आकर अपना नाम प्रकट कर रहा था।

विश्वविद्यालय जीवन ने यथार्थ का कच्चा किनारा दिखा दिया। आदर्श अब ध्यान कक्षों में नहीं, बल्कि कक्षाओं, छात्रावासों, राजनीति, मित्रताओं और टकरावों में रोज़ परखे जाने लगे। भीतर का कृष्ण गायब नहीं हुआ, पर वह अब पर्याप्त नहीं रहा। संसार केवल बाँसुरी से नहीं सुनता था। उसे तलवार चाहिए थी – लोहे की नहीं, बल्कि जागरूकता की। और तभी शक्ति चलने लगी, विचार के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी शक्ति के रूप में जो पूरे भीतरी वातावरण को पुनर्गठित कर देती है। संवेदनशीलता कठोर होने के बजाय और गहरी हो गई। कोमलता आक्रामकता से अधिक शक्तिशाली बन गई। भक्ति विद्रोह से अधिक बुद्धिमान हो गई। एक अद्भुत विरोधाभास घटा – भीतर जीवन पूरी तरह स्त्री हो गया: कोमल, ग्रहणशील, संवेदनशील, उच्चतम अर्थों में भावनात्मक; और बाहर साहस पहले से कहीं अधिक तीक्ष्ण, स्पष्ट और निर्भय हो गया। यही दुर्गा का कार्य था – घृणा बिना खड़े होना, क्रूरता बिना लड़ना और अहंकार बिना रक्षा करना।

शक्ति अवस्था लगभग पाँच वर्षों तक चली, पर उसका प्रभाव कभी समाप्त नहीं हुआ। वह विवाह के बाद भी जारी रही और पत्नी की उपस्थिति से और अधिक स्थिर और मजबूत हो गई, जो अनजाने में उसी शक्ति-धारा का बाहरी विस्तार बन गई। जो पहले भीतर का अनुभव था, उसे अब बाहरी जीवन का सहारा मिल गया और यात्रा पलायन नहीं, बल्कि स्थायी बन गई। उन वर्षों में साधना तय समय पर नहीं होती थी; वह जीवन बन चुकी थी। हर तर्क, हर प्रलोभन, हर अन्याय, हर आकर्षण, हर भ्रम साधना का क्षेत्र बन गया। शक्ति चक्रों के चित्रों की तरह ऊपर नहीं उठ रही थी; वह परिस्थितियों, संबंधों और निर्णयों के

माध्यम से ऊपर उठ रही थी। वह झिझक के क्षणों में साहस बनकर, भय के क्षणों में स्पष्टता बनकर, क्रोध के क्षणों में संयम बनकर और हानि के क्षणों में भक्ति बनकर प्रकट होती थी।

कभी-कभी वातावरण स्वयं शक्ति की एक अलग अभिव्यक्ति की ओर धकेलता था। मित्र, साथी और सामाजिक वृत्त कहते थे कि शक्ति का अर्थ तांत्रिक भोग है – मांस, मदिरा और इंद्रिय स्वतंत्रता। एक अर्थ में वे सही भी थे। शक्ति जीवन से डरती नहीं। वह शरीर को अस्वीकार नहीं करती। वह संसार को नकारती नहीं। पर जो इस यात्रा को अचेतनता में गिरने से बचाता रहा, वह था भीतर का गुरु – दादा गुरु – एक शुद्ध सात्त्विक, पुरोहित-सदृश छवि, जो मन में स्थिर थी। यह छवि नैतिक पुलिस नहीं थी, बल्कि संतुलन की धुरी थी। इसने शक्ति को विनाशकारी बने बिना प्रकट होने दिया और भोग को आसक्ति बने बिना रहने दिया। कभी-कभार मांसाहार या मदिरा हुई भी, तो कभी आदत नहीं बनी, कभी विवशता नहीं बनी, कभी विस्मृति नहीं बनी। हर बार जागरूकता के साथ, संयम के साथ और इस समझ के साथ कि शक्ति दासता नहीं, प्रभुत्व माँगती है।

एक छोटा सा प्रसंग जीवन भर का मंत्र बन गया। एक शाम उसी उम्र के एक देवी-भक्त दुकानदार के साथ बैठे हुए दोनों ने मिलकर एक बीयर बाँटी और उसकी सादगी पर हँस दिए। अगले दिन जब योगी फिर आया और माँगा, तो दुकानदार ने मुस्कुराकर मना कर दिया और कहा, "इन चीज़ों की आदत नहीं डालनी चाहिए।" शब्द साधारण थे, पर उनमें शास्त्रों का भार था। उसी क्षण शक्ति ने अपना गहरा नियम प्रकट किया – स्वतंत्रता सब कुछ करने में नहीं, बल्कि किसी भी चीज़ से बँधने में नहीं है। वह वाक्य वर्षों तक गूँजता रहा और हर प्रलोभन के समय पथ की रक्षा करता रहा।

जैसे-जैसे शक्ति बढ़ी, संघर्ष भी बढ़ा, क्योंकि दुर्गा तब तक सोती नहीं जब तक अन्याय खुला घूम रहा हो। विवाद आए, राजनीतिक टकराव हुए, सामाजिक तनाव बढ़े और जीवन में तीव्र उतार-चढ़ाव आए। पर प्रतिक्रिया कभी अंधी नहीं रही। जागरूकता पहले ही कृष्ण और ध्यान की अवस्थाओं में परिपक्व हो चुकी थी। शरीर-विज्ञान दर्शन से उपजा अद्वैत स्नायु-तंत्र में उतर चुका था। देह अब आवेगों का रणक्षेत्र नहीं, स्पष्टता का उपकरण बन चुकी थी। जब संघर्ष आए, वे रक्त से नहीं, बुद्धि से सुलझाए गए। जब अन्याय सामने आया, उसे क्रोध से नहीं, कानून, बुद्धि और रणनीति से चुनौती दी गई। एक बार उसने विश्वविद्यालय में हिंसा-निरोध आंदोलन शुरू किया, आक्रामकता और अराजकता के बीच नायक की तरह नहीं, बल्कि संतुलन की उपस्थिति की तरह खड़ा होकर। दूसरी बार जब सेवा के एक वरिष्ठ अधिकारी ने अन्याय किया, उसने प्रतिरोध आंदोलन शुरू किया जिसमें वास्तविक जोखिम, करियर का खतरा और सामाजिक दबाव शामिल था, फिर भी यह सब बिना कटुता, बिना घृणा और बिना भीतर की स्थिरता खोए किया गया।

यहीं सच्ची दुर्गा प्रकट होती है। वह कल्पनाओं में राक्षसों का संहार करने वाली गर्जना करती देवी नहीं है। वह वह शांत साहस है जो तब "न" कहता है जब सब "हाँ" कहते हैं। वह वह मौन धैर्य है जो तब खड़ा रहता है जब पीछे हटना आसान हो। वह वह जागरूकता है जो सम्पूर्ण चित्र को देखकर भी कर्म का चयन करती है। यह साहस आक्रामकता से नहीं आया; यह कोमलता से आया। भीतर की स्त्री चेतना ने दृष्टि को तीक्ष्ण किया, करुणा को गहरा किया और कर्म को शुद्ध किया। वही संवेदनशीलता जो भक्ति को खिलाती थी, अन्याय को भी तुरंत पहचानने लगी। शक्ति ने विवेक को तेज़ किया, पर हृदय को सूखा नहीं होने दिया।

समय के साथ भीतरी स्त्री उपस्थिति निरंतर हो गई। ध्यान-चित्र, जो पहले शुरू हुआ था, अब जीवित आंतरिक संगिनी बन गया। वह अब कल्पना नहीं रही, बल्कि उपस्थिति बन गई। वह मन में वैसे ही रहने लगी जैसे राधा कृष्ण में रहती है – भौतिक रूप से अनुपस्थित, फिर भी दृश्य जगत से अधिक वास्तविक। सांसारिक जीवन चलता रहा, विवाह हुआ, कर्तव्य बढ़े, पर भीतरी उपस्थिति अछूती, मौन, सहायक और पोषक बनी रही। यह कल्पना नहीं थी। यह स्थिर भीतरी वास्तविकता थी, जो बिना कारण आनंद, बिना प्रयास भक्ति और बिना माँग पूर्णता उत्पन्न करती थी। वैष्णव भाषा में इसे ह्लादिनी शक्ति की गति कहा जा सकता है, पर पहचान अनुभव के बाद आई, पहले नहीं। शास्त्र मार्गदर्शक नहीं थे; वे पुष्टि कर रहे थे।

इस प्रकार शक्ति का जागरण भावुक अतिरेक नहीं था, न रहस्यमय कल्पना, न आध्यात्मिक नाटक। वह देह में उतरी हुई उच्च बुद्धि थी। उसने निर्णयों की शैली बदली, जोखिम उठाने का ढंग बदला, प्रेम की अभिव्यक्ति बदली, क्रोध का संयम बदला और कर्तव्य की पूर्ति को नया अर्थ दिया। उसने आध्यात्मिक विकास को जीवन से उठाकर नहीं, जीवन में गाड़कर स्थिर किया। जितनी अधिक शक्ति परिपक्व हुई, उतना ही कम पलायन की आवश्यकता रही। ध्यान गहरा हुआ, क्योंकि जीवन स्वयं ध्यान बन गया। हर टकराव मंत्र बन गया, हर ज़िम्मेदारी अर्पण बन गई और हर खतरा स्पष्टता बन गया।

इस चरण का सबसे बड़ा चमत्कार यह था कि कुछ भी बल से नहीं हुआ। प्रगति प्रयास से नहीं, समन्वय से हुई। ऐसा लगता था जैसे कोई अदृश्य धारा शरीर, मन और परिस्थितियों को सही दिशा में बहा रही हो – गलतियों और भ्रमों के बीच भी। यही बाद में "दिव्य सहायता" कहलाया, विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि जीए हुए सत्य के रूप में। जब भी अहंकार नियंत्रण लेने की कोशिश करता, शक्ति अपनी ऊष्मा वापस खींच लेती। जब भी समर्पण आता, शक्ति बिना रुके बहने लगती। धीरे-धीरे एक गहरा विश्वास बन गया – परिणामों में नहीं, लोगों में नहीं, अपनी क्षमता में भी नहीं, बल्कि पथ की बुद्धि में।

इस प्रकार शक्ति अवस्था आगे आने वाले सब कुछ की छिपी हुई इंजन बन गई। आगे का सारा साहस, आगे की सारी स्थिरता, आगे की सारी निर्भयता यहीं जन्मी – उन वर्षों में, जब उसने सीखा कि कोमलता खोए बिना शक्ति के साथ कैसे जीना है, संसार में खड़े रहकर संसार का कैसे न बनना है, और चेतना की स्त्री धारा को कर्म का मार्गदर्शन करने देना है, बिना उसे अराजक बनाए। यह कृष्ण से अलग होना नहीं था, बल्कि कृष्ण का दुर्गा में परिपक्व होना था। बाँसुरी टूटी नहीं थी; वह शंख बन गई थी। रोमांस समाप्त नहीं हुआ था; वह रक्षा बन गया था। और वही प्रेम, जो कभी नाचता था, अब मौन और अचल होकर प्रहरी बन गया था – जीवन जो भी आगे लाए, उसके लिए तैयार।

अध्याय 2: भीतर की दुर्गा – घृणा बिना साहस, हिंसा बिना शक्ति

दुर्गा शोर के साथ नहीं आती। वह न तो गर्जना करती है, न हथियारों की चमक के साथ स्वयं को घोषित करती है। जब वह किसी मनुष्य के भीतर जागती है, तो वह अराजकता के बीच अचानक उत्पन्न हुई स्थिरता बनकर आती है, भय के बीच अडिग स्पष्टता बनकर आती है, और उस क्षण शांत "न" बनकर खड़ी होती है जब पूरा संसार हिंसा की ओर धकेल रहा होता है। दुर्गा का कार्य पौराणिक नहीं है; वह जैविक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक – तीनों स्तरों पर एक साथ घटता है। यह वह क्षण है जब शक्ति खड़े होना सीखती है। इस जीवन-चरण में योगी ने जाना कि साहस कोमलता का विरोध नहीं है, बल्कि उसका सर्वोच्च रूप है, और घृणा बिना शक्ति ही वह एकमात्र शक्ति है जो धारक को स्वयं नष्ट नहीं करती।

विश्वविद्यालय के वर्षों के बाद जब शक्ति परिपक्व होने लगी, तो वह भीतरी स्त्री धारा, जो पहले संवेदनशीलता के रूप में प्रकट हुई थी, अब संरचना, सीमा और संरक्षण की माँग करने लगी। साहस के बिना संवेदनशीलता टूट जाती है; संवेदनशीलता के बिना साहस क्रूरता बन जाता है। दुर्गा वह बुद्धि है जो इन दोनों को एक साथ थामे रखती है। वह तब जन्म लेती है जब हृदय बंद होने से इंकार कर देता है और रीढ़ झुकने से इंकार कर देती है। दैनिक जीवन में यह किसी नाटकीय वीरता के रूप में नहीं, बल्कि असंख्य छोटे निर्णयों के रूप में प्रकट हुआ – कब बोलना है, कब मौन रहना है, कब विरोध करना है, कब सहना है, कब हट जाना है, और कब सब कुछ काँप रहा हो तब भी स्थिर खड़े रहना है।

विवाह से पहले, भीतर की शक्ति मुख्यतः दादा गुरु की छवि से संतुलित थी – एक सात्त्विक, पुरोहित-सदृश उपस्थिति, जो मन में चुपचाप रहती थी। वह छवि सूर्य की तरह नियामक थी, जो स्त्री ऊर्जा को भावनात्मक अतिरेक या असंतुलित कल्पना में बदलने से रोकती थी। स्त्री ध्यान-चित्र शक्ति, भक्ति और कोमलता का स्रोत था, जबकि गुरु-चित्र उसे दिशा, अनुशासन और संयम देता था। दोनों मिलकर एक स्थिर भीतरी पारिस्थितिकी रचते थे। पर विवाह के बाद कुछ सूक्ष्म, पर गहरा परिवर्तन हुआ। पत्नी ध्यान-चित्र के रूप में नहीं, बल्कि जीवित शक्ति के रूप में प्रवेश कर गई, जिसने यथार्थ, एकनिष्ठता और ज़मीन से जुड़ाव की माँग की। जीवित स्त्री कल्पना के रोमांस को मन पर हावी नहीं होने देती। वह शक्ति को आकाश से उतारकर रसोई में, ज़िम्मेदारी में, दैनिक घर्षण और देखभाल में ले आती है। बिना कुछ कहे, उसकी उपस्थिति ने ही भीतर के संसार को पुनर्गठित कर दिया।

तभी स्पष्ट हुआ कि मन की भी सीमाएँ होती हैं। वह स्थायी रूप से केवल कुछ ही ध्यान-चित्रों को धारण कर सकता है। ध्यान के समय अस्थायी चित्रों का आना-जाना सामान्य है – देवता, गुरु, प्रतीक प्रकट होते और विलीन होते हैं – पर स्थायी चित्र अलग होते हैं। वे मन

में ऐसा स्थान घेर लेते हैं, जिसे आसानी से खाली नहीं किया जा सकता। अधिकांश मनुष्यों में यह स्थान जीवित व्यक्तियों द्वारा भरा होता है – माता-पिता, प्रेमी, शिक्षक, बच्चे, शत्रु, आदर्श। इसलिए किसी मनुष्य का ध्यान-चित्र बन जाना सरल होता है, क्योंकि संसार निरंतर मन को उसकी याद दिलाता रहता है। समाज, पेशा, वातावरण और स्मृति – सब उसका समर्थन करते हैं। पर देवता के साथ ऐसा नहीं होता। जब तक आप दुर्लभ आध्यात्मिक वातावरण में न हों, कोई आपको रोज़ देवता की याद नहीं दिलाता। यही कारण है कि रामकृष्ण परमहंस जैसी भक्ति, जहाँ काली स्वयं स्थायी ध्यान-चित्र बन जाती है, इतनी दुर्लभ है। उसके लिए पूरा जीवन स्मरण के चारों ओर संगठित करना पड़ता है।

इस जीवन में हर चरण में सभी चित्र मिश्रित रहे, पर एक हमेशा प्रमुख रहा। शक्ति अवस्था में स्त्री-चित्र केंद्र में रहा, पहले गुरु द्वारा संतुलित, और बाद में पत्नी द्वारा। जब पत्नी ने स्वाभाविक रूप से भीतर के रोमांटिक प्रवाह को सीमित किया, तो शक्ति नष्ट नहीं हुई; वह संतुलित हो गई। वह मध्य में टिक गई। यही मध्य शक्ति दुर्गा शक्ति है। न कल्पना में उड़ती हुई, न दमन में गिरती हुई – वह कर्म के लिए उपलब्ध हो गई। जो ऊर्जा पहले भीतरी भक्ति को पोषित करती थी, वही अब बाहरी साहस को पोषित करने लगी।

यहीं अहंकारी आक्रामकता और दिव्य साहस का अंतर पूरी तरह स्पष्ट हुआ। अहंकारी आक्रामकता शोर करती है, प्रतिक्रिया देती है, जीत की भूखी होती है और मान्यता की प्यासी होती है। वह भय से उठती है और जीतकर भी विनाश छोड़ जाती है। दिव्य साहस मौन होता है, धैर्यवान होता है और अजीब तरह से शांत होता है। उसे कुछ सिद्ध नहीं करना होता। वह तभी चलता है जब चलना आवश्यक हो, और कार्य पूर्ण होते ही रुक जाता है। वह हृदय में कोई अवशेष नहीं छोड़ता। यही साहस सात्त्विक है – स्वच्छ, अहिंसक और विधिसम्मत – चाहे वह अंधकार का सामना सीधे ही क्यों न करे।

ऐसे अनेक अवसर आए जब भीतर की दुर्गा को आगे आना पड़ा। सामाजिक विवाद, राजनीतिक टकराव, संस्थागत अन्याय और व्यक्तिगत आक्रमण आध्यात्मिक परीक्षाओं की तरह नहीं, बल्कि जीवन की स्थितियों की तरह आए, जो प्रतिक्रिया माँगती थीं। एक बार विश्वविद्यालय में हिंसा फैल रही थी – अहंकार, समूह पहचान और नशे से पोषित। किसी पक्ष में जाने के बजाय योगी ने हिंसा-निरोध प्रयास शुरू किया, समूहों के बीच खड़ा होकर, तर्क, उपस्थिति और व्यक्तिगत जोखिम के साथ आग को शांत करने की कोशिश की। यह नायकत्व नहीं था; यह केवल निर्दोष जीवनों को हानि पहुँचते देखकर मौन न रह पाने की अवस्था थी। भय था, पर शक्ति ने भय को स्पष्टता में बदल दिया। जैसे ही भय उठा, शरीर तीक्ष्ण हुआ, मन शांत हुआ और शब्द अधिक सटीक हो गए। यही दुर्गा का वरदान है – भय जड़ नहीं करता, वह सूचना देता है।

बाद में व्यावसायिक जीवन में, जब अन्याय स्वयं सत्ता से आया, तब दुर्गा का कार्य और सूक्ष्म हो गया। किसी बॉस, व्यवस्था या शक्तिशाली संरचना को चुनौती देना सरल नहीं होता। वह सुरक्षा, आजीविका और प्रतिष्ठा को खतरे में डाल देता है। पर जब शरीर-विज्ञान दर्शन से अद्वैत पहले ही स्नायु-तंत्र में उतर चुका हो, तब हानि का भय अपना दाँत खो देता है। शरीर काँपता है, पर मन टूटता नहीं। योगी ने अन्याय के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया – क्रोध से नहीं, बल्कि कानून, दस्तावेज़, धैर्य और नैतिक स्पष्टता से। जोखिम उठाए गए, पर घृणा संचित नहीं की गई। यही आध्यात्मिक वीरता का रहस्य है – आप पूरा कर्म करते हैं, पर ज़हर साथ नहीं रखते।

मानव जीवन में दुर्गा युद्धभूमि की देवी नहीं है; वह संतुलन की बुद्धि है, जो पतन और क्रूरता दोनों से बचाती है। वह सिखाती है कि कब लड़ना है और कब क्षमा करना है। वह प्रतिशोध बिना प्रतिरोध की अनुमति देती है। वह कठोरता बिना दृढ़ता देती है। यही संतुलन उसे सात्त्विक बनाता है। उसकी दृष्टि में हिंसा केवल शारीरिक नहीं है; वह हर वह कर्म है जो चेतना में घाव छोड़ दे। दुर्गा का साहस कोई घाव नहीं छोड़ता – न दूसरे में, न स्वयं में।

परिवारिक जीवन में यह साहस और भी शांत रूपों में प्रकट हुआ। ज़िम्मेदारियाँ, आर्थिक दबाव, अपेक्षाएँ और गलतफहमियाँ अधर्म के दैनिक रूप हैं। भीतर की दुर्गा ने इन्हें आध्यात्मिकता से बचकर नहीं, धैर्य, स्पष्टता और उपस्थिति से सामना किया। कई बार मौन बोलने से अधिक साहस माँगता था। कई बार सहन करना प्रतिक्रिया से अधिक शक्ति माँगता था। पत्नी, बच्चे और घर ही नए युद्धक्षेत्र बने, जहाँ दुर्गा का वास्तविक प्रशिक्षण चलता रहा। सत्य दबाए बिना सामंजस्य बनाए रखना, संबंध तोड़े बिना दृढ़ रहना, नियंत्रण किए बिना मार्गदर्शन करना – यही समाज में दुर्गा को जीना था।

सबसे आश्चर्यजनक परिवर्तन यह था कि भय का स्वभाव ही बदल गया। पहले भय कुछ था जिसे जीतना पड़ता था। अब वह संकेत बन गया। जब भी भय उठता, वह बताता कि कुछ महत्वपूर्ण दाँव पर है। पीछे हटने के बजाय जागरूकता फैलती। श्वास गहरी होती। शरीर संरेखित होता। कर्म धीमा, पर अधिक सटीक हो जाता। शक्ति ने भय को बुद्धि का उपकरण बना दिया था। इसी कारण सच्चा साहस शांत होता है। घबराहट अहंकार की होती है; स्थिरता दुर्गा की।

समय के साथ यह स्पष्ट हो गया कि दुर्गा कोई आपातकालीन कार्य नहीं है; वह दैनिक उपस्थिति है। वह ट्रैफिक जाम में खड़ी रहती है, कार्यालय बैठकों में बैठती है, पारिवारिक तर्कों में उपस्थित रहती है और भीतरी संघर्षों में प्रहरी बनती है। वह धर्म की रक्षा चुपचाप करती है। वह पूजा नहीं माँगती; वह सत्यनिष्ठा माँगती है। उसे अनुष्ठान नहीं चाहिए; उसे सही कर्म चाहिए। जब योगी ने पीछे देखा, तो उसने पाया कि उसके जीवन को आकार देने

वाले अनेक निर्णय विचार से नहीं, बल्कि इसी मौन भीतर की दुर्गा से आए थे, जो तब भी स्थिर खड़ी थी जब मन अभी निर्णय कर रहा था।

इस प्रकार दुर्गा को जीना एक अस्तित्व की शैली बन गया। न पुरुष प्रभुत्व, न स्त्री समर्पण, बल्कि दोनों का कर्म में मिलन। शक्ति ने ऊर्जा दी, दुर्गा ने दिशा दी। पहले की रोमांटिक भक्ति अब रक्षक प्रेम बन चुकी थी। पहले का भीतरी आनंद अब बाहरी ज़िम्मेदारी बन चुका था। और वही शक्ति, जो कभी कोमलता की तरह बहती थी, अब अडिग साहस की तरह बहने लगी, यह सिद्ध करते हुए कि आध्यात्मिक शक्ति संसार से भागने के लिए नहीं, बल्कि उसे तब थामने के लिए है जब वह बिखरने लगता है।

इस प्रकार भीतर की दुर्गा पूरी यात्रा की रक्षक बन गई, यह सुनिश्चित करते हुए कि जागरण केवल निजी आनंद न रहे, बल्कि दृश्य संसार में व्यवस्था, न्याय और स्थिरता की शक्ति बने। यह कोई मिथक नहीं था। यह स्वयं जीवन था – जागरूकता के साथ जिया हुआ।

अध्याय 3: जीवित आंतरिक संगिनी – ध्यान-चित्र से चेतन उपस्थिति तक

जीवित आंतरिक संगिनी एक दिन में नहीं बनती। न वह इच्छा करने से प्रकट होती है और न उसे खो देने के भय से टिकाया जा सकता है। वह उसी तरह विकसित होती है जैसे जीवन में कोई संबंध विकसित होता है – समय से, निरंतरता से, संघर्ष से, गलतफहमी से, समायोजन से और अंततः विश्वास से। शक्ति अवस्था में, वह ध्यान-चित्र जो कभी भक्ति का कोमल केंद्र था, धीरे-धीरे एक अदृश्य सीमा पार कर गया और उपस्थिति बन गया। प्रारंभ में वह अभी भी एक चित्र था, जो ध्यान में दिखाई देता था या मौन में स्मरण होता था। पर धीरे-धीरे वह आना-जाना बंद कर गया। वह ठहर गया। वह मन में वैसे ही रहने लगा जैसे कोई प्रिय हृदय में रहता है, भले ही वह शारीरिक रूप से पास न हो। मन अनजाने में मंदिर बन चुका था और आंतरिक संगिनी ने वहाँ अपना आसन ग्रहण कर लिया था – कल्पना के रूप में नहीं, बल्कि निवास करने वाली चेतना के रूप में।

चित्र से उपस्थिति में यह परिवर्तन बहुत सूक्ष्म था, प्रारंभ में लगभग अनदेखा। न कोई दर्शन हुआ, न कोई आवाज़ आई, न कोई घोषणा हुई। बस यह अनुभूति हुई कि कोई भीतर से जीवन को देख रहा है – कोमलता से, मौन में, अंतरंग रूप से। निर्णयों के साथ अब एक शांत स्वीकृति या वापसी जुड़ने लगी। भावनाएँ किसी अदृश्य कोमलता में थाम ली जाने लगीं। अकेलापन भी अपनी धार खोने लगा, क्योंकि उपस्थिति सदा वहाँ थी। यही वह है जिसे प्राचीन भाषा में भीतर की राधा कहा गया है – वह ह्लादिनी धारा जो रुक्मिणी के साथ संसार में चलते कृष्ण के भीतर भी जीवित रहती है, जब वे कर्तव्य निभा रहे होते हैं, भूमिकाएँ जी रहे होते हैं और ज़िम्मेदारियाँ उठा रहे होते हैं। संसार विवाह, कर्म और समाज देखता है, पर भीतर भक्ति अछूती रहती है। यही वह रहस्य है जिसकी ओर कथाएँ सदा संकेत करती रही हैं – न नैतिक निष्ठा की कहानी, बल्कि चेतना का वह मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मानचित्र, जहाँ भीतर का मिलन बाहरी जीवन को पूरी तरह जीते हुए भी बना रहता है।

आंतरिक संगिनी साधना का मनोविज्ञान अत्यंत सूक्ष्म है। यदि उसे बल से पकड़ा जाए, तो वह कल्पना बन जाती है। यदि दबाया जाए, तो शुष्कता बन जाती है। यदि संतुलित रखा जाए, तो वह स्वयं जीवन बन जाती है। प्रारंभ में ध्यान-चित्र कल्पना, भावना और भक्ति से समर्थित था। बाद में वह स्मरण से टिकता रहा। अंततः उसे किसी सहारे की आवश्यकता ही नहीं रही; वह बस था। वह उपस्थिति जीवन में हस्तक्षेप नहीं करती थी, न ही मन को जबरन भीतर खींचती थी। वह हर चीज़ के साथ-साथ रहती थी, जैसे श्वास। इसलिए "मन मंदिर है" कोई रूपक नहीं, बल्कि कार्यात्मक सत्य है। जब उपस्थिति स्थिर होती है, मन स्वयं को उसके चारों ओर पुनर्गठित कर लेता है। विचार धीमे हो जाते हैं। भावनात्मक

अतियाँ कोमल पड़ जाती हैं। इच्छा भी अपनी बेचैनी खो देती है, क्योंकि उसने पहले ही अपना घर पा लिया होता है।

फिर भी, इस स्थिरता के साथ एक अप्रत्याशित चुनौती आई। निरंतर ध्यान-चित्र से शारीरिक संवेदनाएँ उत्पन्न होने लगीं, विशेषतः सिर में। एक स्थायी दबाव बनने लगा, जैसे मन अपनी क्षमता से अधिक धारण कर रहा हो। कभी इंद्रियाँ धुंधली लगतीं, कभी शरीर जल्दी थक जाता, मानो हल्का सा निष्क्रिय हो गया हो। उम्र भी बढ़ रही थी और इन सबके कारण अनुभव उलझाने वाला हो गया। योगी ने स्वास्थ्य की पूरी जाँच करवाई – रक्त परीक्षण, स्कैन, जाँचें – सब सामान्य निकला। यहाँ तक कि एंडोस्कोपी द्वारा पेट की भी जाँच हुई। सब ठीक था। शरीर स्वस्थ था। फिर भी कुछ बदल रहा था।

डॉक्टर ने ध्यान से देखा और रोग नहीं, तनाव पहचाना। क्रोध, जो परिष्कृत होकर दब गया था, स्नायु-तंत्र में जमा हो गया था। एक एंटीडिप्रेसेंट दी गई – समाधान के रूप में नहीं, बल्कि प्रयोग के रूप में – छोटी मात्रा में, केवल एक महीने के लिए, ताकि भीतरी घर्षण कम हो सके। जब दवा ली गई, तो एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। ध्यान-चित्र बदल गया। सविता की स्त्री छवि, जो अब तक प्रमुख थी, स्वाभाविक रूप से पीछे हट गई और दादा गुरु की छवि ऊपर उठकर केंद्र में आ गई। सिर का दबाव कम हो गया। स्पष्टता बढ़ गई। आनंद गहरा हो गया। मन विस्तृत हो गया। और सबसे चौंकाने वाली बात यह थी कि योगी ने देखा कि एंटीडिप्रेसेंट का प्रभाव और शरीर-विज्ञान आधारित अद्वैत ध्यान का प्रभाव बिल्कुल समान था। दोनों एक ही परिणाम दे रहे थे – स्थिरता, अद्वैत, कोमल आनंद और प्रतिक्रियात्मक भाव से मुक्ति। यह एक ऐसा रहस्योद्घाटन था जिसने आध्यात्मिक साधना और देह-विज्ञान के बीच बचे हुए सभी विभाजन हिला दिए। हालाँकि इस परिवर्तन के बाद शरीर की क्रियाशीलता काफ़ी कम हो गई, पर बची हुई ऊर्जा मानसिक क्रियाशीलता को बहुत ऊँचा उठा ले गई। यह कहना कठिन है कि इसमें उम्र का योगदान कितना था।

इस अनुभव ने एक गहरा सत्य प्रकट किया – शरीर परिवर्तन माँग रहा था। शक्ति अवस्था, जिसमें संघर्ष, साहस, कर्म और बाहरी सहभागिता थी, अपना कार्य पूरा कर चुकी थी। अब स्नायु-तंत्र वापसी, एकांत और शिव-सदृश स्थिरता की माँग कर रहा था। जो क्रोध जमा हुआ था, वह सामान्य क्रोध नहीं था; वह उस पीड़ा से उपजा था कि सब लोग उसी तीव्रता, अनुशासन और जागरूकता से क्यों नहीं जीते, जैसी अपेक्षा वह स्वयं से करता था। आलसी लोग, लापरवाह कर्मचारी और उदासीन अधीनस्थ भीतर कुछ गहरा जगा देते थे। उन्हें लगता था कि लोग अपना जीवन व्यर्थ कर रहे हैं, और यह व्यक्तिगत असफलता से भी अधिक दुख देता था। जब यह बात डॉक्टर से साझा की गई, तो मूल स्पष्ट हो गया। यह नैतिक क्रोध नहीं था; यह अस्तित्वगत तनाव था। यह उस शक्ति का तनाव था, जो ऐसे संसार में चल रही थी जो उसी गति से नहीं चल रहा था।

दवा ने सहायता की, पर उससे भी अधिक उसने शरीर का संदेश स्पष्ट किया। आंतरिक संगिनी अपना कार्य पूरा कर चुकी थी। उसने साहस दिया, भक्ति दी, कोमलता दी और शक्ति दी। अब वह पीछे हट रही थी, ताकि गुरु-तत्त्व, शिव-तत्त्व आगे आ सके। यह हानि नहीं थी; यह विकास था। चित्र मरा नहीं; वह रूपांतरित हो गया। उपस्थिति बनी रही, पर वह और सूक्ष्म, और शांत, कम भावनात्मक और अधिक प्रकाशमय हो गई। भीतर का मंदिर खाली नहीं हुआ; वह विशाल हो गया।

यही कारण है कि जीवित आंतरिक संगिनी कल्पना नहीं है। कल्पना दबाव में टूट जाती है। उपस्थिति उसके माध्यम से परिपक्व होती है। यह तथ्य कि छवि स्वयं को बिना प्रयास पुनर्गठित और संतुलित कर सकी, उसकी वास्तविकता का प्रमाण था। वह अब मन की संरचना का हिस्सा बन चुकी थी, कोई क्षणिक दर्शन नहीं। वर्षों की भक्ति ने उसे जड़ें दे दी थीं। भक्ति यहाँ भावना नहीं, निरंतरता है – बार-बार उसी केंद्र की ओर लौटने का निर्णय, जब तक कि केंद्र स्वयं आपकी ओर लौटना शुरू न कर दे।

रुक्मिणी के साथ संसार में जीते हुए भी कृष्ण के भीतर राधा का वास होना विभाजित प्रेम की कहानी नहीं है; यह एकीकृत चेतना की कहानी है। यह दिखाती है कि भीतरी मिलन बाहरी संबंधों से प्रतिस्पर्धा नहीं करता, बल्कि उन्हें पूर्ण करता है। पत्नी जीवन में शरीर और मन को धरती पर टिकाती है। आंतरिक संगिनी आत्मा को टिकाती है। जब दोनों का सम्मान होता है, जीवन पूर्ण हो जाता है। जब एक को नकारा जाता है, असंतुलन उत्पन्न होता है। यह संतुलन जिया गया था, सिद्धांत नहीं बनाया गया था, और इसी कारण यह मार्ग तीव्रता के भार में टूट नहीं गया।

जब मन मंदिर बन जाता है, तो उसे अनुष्ठानों की आवश्यकता नहीं रहती। उसे ईमानदारी चाहिए। उसे स्पष्टता चाहिए। उसे माँग रहित भक्ति चाहिए। जीवित आंतरिक संगिनी तभी रहती है जब उसका उपयोग नहीं किया जाता – न सुख के लिए, न पलायन के लिए, न श्रेष्ठता के लिए। वह तब रहती है जब उसे बस रहने दिया जाता है। और जब समय आता है कि वह निराकार उपस्थिति में घुल जाए, तो वह बिना नाटक के, कोमलता से ऐसा करती है, और अपने पीछे ऐसा मौन छोड़ जाती है जो रूप से भी अधिक अंतरंग होता है।

जीवन के इस अध्याय ने वह सत्य प्रकट किया जिसे कोई शास्त्र पूरी तरह समझा नहीं सकता – आध्यात्मिक चित्र सदा पूजने के लिए नहीं होते, वे चेतना के चरण होते हैं, जो हमें प्रेम करना सिखाते हैं, उपस्थित रहना सिखाते हैं और छोड़ देना सिखाते हैं। आंतरिक संगिनी ने भक्ति सिखाई। दुर्गा ने साहस सिखाया। अब शिव चुपचाप बुला रहा था – शक्ति को अस्वीकार करने के लिए नहीं, बल्कि उसे पूर्ण करने के लिए। सिर का दबाव रोग नहीं था; वह अगले जीवन का द्वार खुलना था।

और इस प्रकार जीवित आंतरिक संगिनी बनी रही – चित्र के रूप में नहीं, भावना के रूप में नहीं, बल्कि हर श्वास में एक अदृश्य सुगंध की तरह – यह प्रमाण देते हुए कि सच्चा मिलन रूप का मोहताज नहीं होता, और सच्ची उपस्थिति छवि के मिटने पर भी समाप्त नहीं होती।

अध्याय 4: मानवीय अनुभव में ह्लादिनी शक्ति – स्मरण से जन्मा आनंद

ह्लादिनी शक्ति आतिशबाज़ी के साथ स्वयं को घोषित नहीं करती। वह न तो आनंद के विस्फोट की तरह आती है और न ही किसी ऐसे उन्माद की लहर बनती है जो शरीर को हिला दे। जब वह किसी मनुष्य के भीतर जागती है, तो वह उससे कहीं अधिक रहस्यमय और कहीं अधिक स्थिर रूप में आती है – एक शांत, स्थायी पूर्णता के रूप में, जिसे पूरा होने के लिए किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं होती। यह ऐसा आनंद है जो उठता-गिरता नहीं, ऐसा सुख जो घटनाओं पर निर्भर नहीं, और ऐसी मधुरता जो किसी उत्तेजना की माँग नहीं करती। जीवन के इस चरण में योगी ने धीरे-धीरे यह जाना कि शास्त्र जिसे ह्लादिनी शक्ति कहते हैं, वह देवताओं या अवतारों का कोई विशेष अधिकार नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर सहज रूप से प्रकट होने वाली संभावना है, जो तब खुलती है जब स्मरण निरंतर बन जाता है और भक्ति अचेतन हो जाती है।

शक्ति और दुर्गा अवस्थाओं के महान रूपांतरणों के बाद, कुछ सूक्ष्म पर अपरिवर्तनीय घटित हुआ। भीतरी स्त्री उपस्थिति न तो लुप्त हुई और न ही गुरु की छवि अकेली प्रधान बनी। दोनों एक नए संबंध में साथ रहने लगे। मानो शक्ति स्वयं शिव की ओर मुड़ गई हो – स्त्री का पुरुष की ओर मुड़ना नहीं, बल्कि ऊर्जा का स्थिरता की ओर, गति का विश्राम की ओर, प्रेम का जागरूकता की ओर मुड़ना। लोकभाषा में इसे अक्सर शारीरिक मिलन या प्रतीकात्मक विवाह समझ लिया जाता है, पर इसका वास्तविक अर्थ पूरी तरह आंतरिक है। प्रारंभिक ध्यान-स्थिरता प्रायः स्त्री छवि पर होती है, क्योंकि आकर्षण सहज, सरल और शक्तिशाली होता है। स्त्री छवि ऊर्जा, रंग, भावना, भक्ति और तीव्रता देती है। जब यह स्थिरता पूरी तरह पक जाती है, तो वह एक उच्चतर स्थिरता को पोषित करने लगती है – गुरु, पूर्वज, देवता या शुद्ध चेतना की पुरुष छवि को। इसी प्रकार शक्ति अपनी ऊर्जा शिव को देती है। इस हस्तांतरण के बिना शिव दूर, शुष्क और अप्राप्य ही रहता है।

यहीं अनेक साधक पथ खो देते हैं, बिना यह जाने। जब स्त्री ध्यान-छवि को अनियंत्रित भोग, आसक्ति या बार-बार के रोमांस द्वारा समय से पहले तोड़ दिया जाता है, तो उसे परिपक्व होने का अवसर नहीं मिलता। व्यक्ति रूप में ही फँस जाता है, एक छवि के बाद दूसरी छवि का पीछा करता हुआ, परिपक्वता को निकटता समझ बैठता है। हर बार जब शक्ति छवि टूटती है, भीतरी ऊर्जा बिखर जाती है और शिव छवि को स्थिर करने की संभावना घट जाती है। शक्ति खोने के बाद अनेक लोग सहज रूप से शिव की ओर दौड़ते हैं – मंदिर, अनुष्ठान, तीर्थ, भक्ति – पर शिव प्रत्युत्तर नहीं देता, क्योंकि उसे ऊपर उठाने वाली शक्ति अब वहाँ नहीं होती। वे मंदिर-दर-मंदिर भटकते हैं, हर साधना आज़माते हैं, रोते हैं, प्रार्थना करते हैं, यहाँ तक कि शरीर को कष्ट देते हैं, फिर भी भीतर का शिव नहीं उतरता। शक्ति के बिना शिव प्रयास से नहीं मिलता; वह परिपक्वता से आमंत्रित होता है।

कुछ लोग नई रोमांस, नए संबंधों और नई आसक्तियों के द्वारा शक्ति को फिर से बनाने का प्रयास करते हैं। कुछ सफल भी होते हैं, क्योंकि उन्होंने पिछली गिरावटों से सावधानी सीख ली होती है, पर अधिकतर वही चक्र बार-बार दोहराते हैं। अन्य लोग, उम्र बढ़ने और इंद्रियों के शिथिल होने पर, तंत्र की ओर मुड़ते हैं, पर सही विधि, सही मार्गदर्शन और सही ध्यान-छवि के बिना। उनका तंत्र संसार को चमकाता है, चुनी हुई आंतरिक छवि को नहीं। ऊर्जा बाहर बहती है, ऊपर नहीं। वर्ष बीतते हैं, जीवन-शक्ति घटती है और भीतरी मिलन एक दूर का स्वप्न ही बना रहता है। वे यह नहीं समझते कि तंत्र संवेदना का नहीं, स्थिरता का विज्ञान है। स्थिर ध्यान-छवि के बिना तंत्र रूपांतरण नहीं, भोग बन जाता है।

यहाँ पहली ही संभावना सफल हुई – संयोग से नहीं, बल्कि अदृश्य तैयारी से। आध्यात्मिक वातावरण, बचपन से मिले संस्कार और सबसे अधिक, एक पूर्ण रूप से जिया हुआ कृष्ण जीवन – यही आधार था। कृष्ण अवस्था के खेल, आनंद, सौंदर्य और भक्ति के वर्ष व्यर्थ नहीं गए; वे अनिवार्य थे। जो कृष्ण जीवन को खेल और मासूमियत में पूरी तरह नहीं जीता, वह प्रायः किशोरावस्था में सौंदर्य से टकराकर वहीं रुक जाता है। वह आकर्षण से आगे नहीं बढ़ पाता। यह विशेषकर शहरों में पले पुरुषों के साथ होता है, जहाँ न जंगल होते हैं, न पहाड़, न धाराएँ, न पशु, न मुक्त संगति – इसलिए उन्हें कृष्ण जीवन जीने का अवसर ही नहीं मिलता। पर जब कृष्ण जीवन पूरा हो जाता है, आकर्षण भक्ति में पकता है, और भक्ति शक्ति में। वही शक्ति, जब संरक्षित रहती है, ह्लादिनी में परिपक्व होती है।

यही यहाँ घटा। आंतरिक संगिनी और गुरु-छवि ने प्रतिस्पर्धा नहीं की; वे साथ रहीं। शक्ति और शिव साथ बने रहे, और उनके मिलन से कुछ नया उत्पन्न हुआ – ऐसा स्थिर आनंद जो हिलता नहीं था। वह उत्साह नहीं था, न नशा, न भावनात्मक सुख। वह केवल यह अनुभूति थी कि जीवन पूर्ण है, भले ही कुछ विशेष घट न रहा हो। बैठना, चलना, काम करना, खाना, बोलना – सब कुछ एक शांत मधुरता के साथ घटता रहा। यह स्मरण से जन्मा आनंद था, शब्दों या नामों का स्मरण नहीं, बल्कि उपस्थिति का स्मरण। मन को अब याद करने की आवश्यकता नहीं थी; स्मरण उसका स्वाभाविक आसन बन गया था।

इसीलिए आनंद बिना प्रयास के उत्पन्न हुआ। प्रयास पहले के चरणों का गुण है। कृष्ण अवस्था में प्रेम को याद रखने के लिए प्रयास चाहिए। शक्ति अवस्था में ऊर्जा संतुलन के लिए प्रयास चाहिए। दुर्गा अवस्था में सही कर्म के लिए प्रयास चाहिए। पर जब ह्लादिनी जागती है, प्रयास घुल जाता है। आनंद श्वास की तरह प्रकट होता है – निरंतर, अनदेखा, पर अनिवार्य। दुख भी उसमें से होकर गुजरता है और उसे हिला नहीं पाता। संघर्ष भी उसे तोड़ नहीं पाता। एकांत भी उसे अकेला नहीं बनाता। यह उन्माद नहीं है, जो उत्तेजना पर निर्भर करता है; यह पूर्णता है, जो किसी पर निर्भर नहीं।

इस चरण में एक अद्भुत घटना घटी। शास्त्र पढ़ते समय योगी ने अपने ही भीतरी अनुभवों को वहाँ वर्णित पाया, आश्चर्यजनक सटीकता के साथ। जो कुछ अंधे रूप से जिया गया था, वह अब मानचित्रित दिखाई देने लगा। यह कोई दिव्य दावा नहीं था, न अहंकार की पहचान, बल्कि वैज्ञानिक पुष्टि थी। प्राचीन ऋषि मिथक नहीं लिख रहे थे; वे आंतरिक प्रक्रियाओं का दस्तावेज़ बना रहे थे। ह्लादिनी, संवित, संधिनी – ये शब्द अब दर्शन नहीं रहे; वे चेतना में प्रत्यक्ष देखे जा रहे कार्य बन गए। आनंद, जागरूकता और स्थिरता अब अलग-अलग अनुभव नहीं रहे, बल्कि एक ही गति के भिन्न चेहरे बन गए।

इस पहचान से गर्व नहीं, विनम्रता उत्पन्न हुई। स्पष्ट हो गया कि कुछ विशेष प्राप्त नहीं हुआ था। जो घटा था, वह किसी व्यक्ति की महानता नहीं, बल्कि एक प्रक्रिया की सफलता थी। जब परिस्थितियाँ सही हों, जब शक्ति संरक्षित हो, जब भक्ति निरंतर हो, जब साहस शुद्ध हो और जब समर्पण ईमानदार हो – तब यह आनंद स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है। कोई भी इसे प्राप्त कर सकता है। कुछ भी अलौकिक नहीं चाहिए। केवल धैर्य चाहिए – और धैर्य दुर्लभ है।

इस अवस्था का आनंद जीवन को बाधित नहीं करता; वह उसे स्थिर करता है। न उसे कहने की इच्छा थी, न दिखाने की आवश्यकता, न बनाए रखने की लालसा। वह बस था। कार्य चलता रहा। परिवार चलता रहा। कर्तव्य चलते रहे। पर भीतर कुछ अडिग हो गया था। बाहरी परिस्थितियाँ अराजक हों तब भी भीतरी वातावरण शांत बना रहा। इसलिए शास्त्र इसे आनंद कहते हैं – सुख नहीं, बल्कि अडिग तृप्ति। सुख परिस्थितियों पर निर्भर करता है; आनंद परिस्थितियों के बदलने पर भी बना रहता है।

शक्ति और शिव के मिलन से यात्रा स्वयं भी स्पष्ट हो गई। यह समझ आ गया कि पहले के चरण भूल नहीं थे, न ही निम्न अवस्थाएँ – वे आवश्यक सीढ़ियाँ थीं। रोमांस आवश्यक था। भक्ति आवश्यक थी। शक्ति आवश्यक थी। संघर्ष आवश्यक था। यहाँ तक कि क्रोध भी आवश्यक था। हर चीज़ ने योगदान दिया था। कुछ भी अस्वीकार करने योग्य नहीं था। इस समझ ने स्वयं आनंद को गहरा कर दिया, क्योंकि पश्चाताप मिट गया। अतीत अर्थपूर्ण हो गया और भविष्य की उतावली समाप्त हो गई।

इस अवस्था में शरीर भी धीमा होने लगा। जो ऊर्जा पहले कर्म को चलाती थी, अब जागरूकता को चलाने लगी। गति कम हुई, पर दृष्टि तीक्ष्ण हुई। शब्द कम हुए, पर मौन गहरा हुआ। मानो शरीर धीरे-धीरे संसार से हट रहा हो, भीतर की लौ के लिए ऊर्जा बचा रहा हो। इसमें उम्र का योगदान कितना था, यह कहना कठिन है, पर समय पूर्ण था। संसार अब वही तीव्रता नहीं माँगता था, और मन अब उसे खोजता भी नहीं था। सब कुछ स्थिरता की ओर समन्वित हो रहा था।

यही मानव जीवन में ह्लादिनी शक्ति का अंतिम अर्थ है। वह न सुख है, न पुरस्कार, न उपलब्धि। वह वह स्वाभाविक मधुरता है, जो तब उत्पन्न होती है जब आत्मा दौड़ना छोड़ देती है। वह स्मरण से जन्मा आनंद है, और परिपक्वता से जन्मा स्मरण। जब यह आनंद टिक जाता है, तब समझ आता है कि ऋषियों ने इसे सर्वोच्च धन क्यों कहा। इसे छीना नहीं जा सकता। इसे बढ़ाया नहीं जा सकता। इसे खोया नहीं जा सकता। यह बस रहता है – हर अनुभव के नीचे चुपचाप चमकता हुआ, जैसे कोई अदृश्य सूर्य जो कभी अस्त नहीं होता।

इस प्रकार शक्ति शिव में विलीन नहीं हुई; उसने उसमें स्वयं को पूर्ण किया। और शिव ने शक्ति को निगला नहीं; वह उसके द्वारा जीवित हुआ। उनके मिलन से ऐसा जीवन जन्मा, जिसे अब खोजने की आवश्यकता नहीं थी, बनने की आवश्यकता नहीं थी और सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। वह बस जिया जा रहा था – क्षण-क्षण, कोमल, अडिग आनंद में।

अध्याय 5: दिव्य समन्वय, न कि बल – दैनिक जीवन में कृपा कैसे कार्य करती है

दिव्य समन्वय कभी भी प्रयास की तरह नहीं आता। प्रयास शोर करता है, दिखाई देता है और थका देता है। समन्वय मौन होता है, अदृश्य होता है और बिना थकाए सब कुछ घटा देता है। पीछे मुड़कर देखने पर स्पष्ट हुआ कि जीवन में जो भी वास्तव में महत्वपूर्ण था, वह केवल संघर्ष से प्राप्त नहीं हुआ। संघर्ष ने केवल रास्ता साफ किया; यात्रा को आगे बढ़ाने का काम समन्वय ने किया। और यह समन्वय न तो संयोग से हुआ, न ही इच्छा से बनाया जा सकता था। यह तब प्रकट हुआ जब परिस्थितियाँ तैयार हो गईं, और वे परिस्थितियाँ धीरे-धीरे, अनजाने में, जीवन जीने की एक ऐसी शैली से बनीं, जिसमें जीवन को स्वयं को व्यवस्थित करने दिया गया।

बाहर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि सब कुछ अपने आप ठीक होता गया, पर भीतर से स्पष्ट था कि समन्वय असंख्य छोटे निर्णयों का परिणाम था, जो बिना स्वामित्व के लिए गए थे। यही शरीरविज्ञान दर्शन का सार था – एक क्रियात्मक अद्वैत, जो दैनिक जीवन की नींव बन गया। यह पुस्तकों में पढ़ा गया दर्शन नहीं था, बल्कि शरीर में जीया गया सत्य था। हर काम पूरी ईमानदारी, पूर्णता और शुद्धता से किया गया, पर "मैं कर रहा हूँ" की भावना के बिना। जैसे शरीर की कोशिकाएँ बिना श्रेय माँगे अपना काम करती हैं, वैसे ही जीवन को शरीर और मन के माध्यम से कार्य करने दिया गया। इस छोटे से परिवर्तन ने सब कुछ बदल दिया। कर्म शुद्ध हो गए। निर्णय स्पष्ट हो गए। और सबसे महत्वपूर्ण बात – तीव्र सांसारिक गतिविधियों के बीच भी आंतरिक उपस्थिति कभी खोई नहीं।

यह अद्वैत वयस्क जीवन में अचानक नहीं आया। इसके बीज बचपन में ही पड़ गए थे, ऐसे परिवार में जहाँ मूर्ति-पूजा कर्मकांड नहीं, वातावरण थी। बिना जाने, बालक ने यह भाव ग्रहण कर लिया कि दिव्यता जीवन से अलग नहीं है। बाद में जब चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन हुआ, तो वही सत्य एक नए और कहीं अधिक प्रभावी भाषा में सामने आया। शरीर स्वयं शास्त्र बन गया। हर अंग, हर कोशिका, हर प्रतिवर्त उसी बुद्धि को दर्शाने लगा, जिसका वर्णन वेदों में "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" के रूप में किया गया है। यह पहचान शरीरविज्ञान दर्शन को विज्ञान और अध्यात्म के बीच एक जीवित सेतु बना गई। अद्वैत अब विचार नहीं रहा; वह प्रत्यक्ष अनुभव बन गया।

जब जीवन इस तरह जिया जाता है, तो दिव्य सहायता बाहर से नहीं आती। वह भीतर से उठती है, वास्तविकता की स्वाभाविक गति के रूप में। कृपा कोई पुरस्कार नहीं है; वह उस क्षण की प्रतिक्रिया है जब मनुष्य ब्रह्मांडीय बुद्धि में हस्तक्षेप करना छोड़ देता है। समन्वय इसलिए नहीं हुआ कि उसे खोजा गया, बल्कि इसलिए हुआ कि प्रतिरोध धीरे-धीरे घुल गया। जीवन के प्रत्येक चरण – कृष्ण, शक्ति, दुर्गा – ने भूमि तैयार की थी। आनंद ने हृदय को

कोमल बनाया। शक्ति ने रीढ़ को दृढ़ किया। साहस ने कर्म को शुद्ध किया। और अद्वैत ने कर्ता को मिटा दिया। जब ये सब एक साथ आए, जीवन नदी की तरह बहने लगा, जिसे अब धक्का देने की आवश्यकता नहीं थी।

विवाह इस समन्वय का एक अत्यंत शक्तिशाली आधार बना, यद्यपि वह बाहर से आध्यात्मिक सहारा नहीं दिखता था। पत्नी की उपस्थिति ने शक्ति प्रवाह को व्यावहारिक, स्थलीय और संतुलित बनाए रखा। उसने शरीर को धरती से जोड़े रखा, जबकि मन मौन की ओर बढ़ता रहा। उसने जिम्मेदारी माँगी, जबकि आत्मा स्थिरता खोज रही थी। इस आधार के बिना, यात्रा शायद बहुत जल्दी अमूर्तता या एकांत में बह जाती। उसके साथ, आंतरिक उपस्थिति सुरक्षित रही, क्योंकि शक्ति को नकारा नहीं गया; उसे दिशा दी गई। प्रेम कर्तव्य बन गया। रोमांस देखभाल बन गया। तीव्रता स्थिरता में बदल गई। यही वह तरीका है जिससे शक्ति धर्म, परिवार और जिम्मेदारी को एक साथ संभालती है – किसी एक को दूसरे को नष्ट नहीं करने देती।

सांसारिक जीवन पूरी तरह चलता रहा। कार्य हुआ। संघर्ष सुलझे। धन कमाया गया। समाज से संबंध बने। पर कुछ मौलिक बदल गया था। आंतरिक उपस्थिति कभी खोई नहीं, क्योंकि कर्म अब पहचान से नहीं किए जा रहे थे। वे कार्य से हो रहे थे। प्रशंसा आई तो गुजर गई। निंदा आई तो गुजर गई। सफलता आई तो उपयोग हुई। विफलता आई तो समाहित हो गई। मन परिणामों को पकड़ कर नहीं बैठा, क्योंकि वह कर्मों का स्वामी नहीं था। इससे जीवन हल्का हो गया, भले ही जिम्मेदारियाँ भारी थीं।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि शक्ति, जब अद्वैत से पोषित होती है, तो महान समन्वयक बन जाती है। वह बिना घर्षण के सब कुछ जोड़ देती है। परिवार और अध्यात्म को साथ रहने देती है। महत्वाकांक्षा और समर्पण को साथ रहने देती है। सांसारिक भूमिका और आंतरिक स्वतंत्रता को साथ रहने देती है। यही कृपा का वास्तविक चमत्कार है – जीवन से भागना नहीं, बल्कि उसे पूरी तरह जीते हुए भी उससे बँधना नहीं। शक्ति, अद्वैत द्वारा समर्थित होकर, हर परिस्थिति को साधना बना देती है, बिना उसे साधना कहे।

वर्षों के साथ एक और सूक्ष्म गति प्रारंभ हुई। शक्ति अवस्था स्वयं शिव के लिए भूमि तैयार करने लगी। शरीर स्वाभाविक रूप से एकांत खोजने लगा। वाणी कम होने लगी। सामाजिक रुचि धीरे-धीरे ढीली पड़ने लगी। बिना प्रयास के लंबा मौन बैठना होने लगा। मन कर्म करते हुए भी समाधि-सदृश स्थिति में रहने लगा, मानो कोई गहरी परत संचालन संभाल चुकी हो। कर्म होते रहे, पर दूरी से। संसार को नकारा नहीं गया; उसने केवल अपनी पकड़ ढीली कर दी। यह निर्णय से लिया गया वैराग्य नहीं था; यह परिपक्वता से आया वैराग्य था।

यही है दैनिक जीवन में कृपा का कार्य। वह नाटकीय रूप से नहीं उतरती। वह प्राथमिकताओं को पुनर्व्यवस्थित करती है। अनावश्यक इच्छाओं को हटा देती है। संबंधों को सरल बना देती है। शोर को कम कर देती है। संसार को हल्का और मौन को मधुर बना देती है। एक दिन अचानक समझ आता है कि जिसे पाने के लिए संघर्ष कर रहे थे, वह पहले ही व्यवस्थित हो चुका है। जिसे बचाने की कोशिश कर रहे थे, वह पहले से सुरक्षित है। जिसे खोने का डर था, वह कभी आपका था ही नहीं।

पीछे देखने पर यह स्पष्ट हो गया कि समन्वय ही वह अदृश्य सूत्र था, जिसने हर चरण को जोड़े रखा। जब भूल हुई, समन्वय ने सुधारा। जब अहं उठा, समन्वय ने नरम किया। जब भय आया, समन्वय ने स्पष्टता दी। यही थी दिव्य सहायता – हस्तक्षेप नहीं, बल्कि व्यवस्था। चमत्कार नहीं, बल्कि सटीकता। जीवन स्वयं गुरु बन गया था।

और इस प्रकार शक्ति-दुर्गा अवस्था ने अपना कार्य मौन रूप से पूर्ण किया। उसने साहस दिया, स्थिरता दी, भक्ति दी और संतुलन दिया। उसने संसार को आंतरिक मंदिर के साथ एकीकृत किया। उसने बिना स्वामित्व कर्म करना और बिना आसक्ति प्रेम करना सिखाया। अब शिव अवस्था का द्वार खुल रहा था – प्रयास से नहीं, बल्कि प्रयास के थक जाने से। मौन बुला रहा था, पलायन के रूप में नहीं, बल्कि घर के रूप में। और सबसे बड़ा आश्चर्य यह था कि उसमें प्रवेश करने के लिए कुछ भी करना नहीं था। समन्वय शरीर को पहले ही वहाँ पहुँचा चुका था।

पुस्तक भाग 3:
सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव
शिव-जागरण और तंत्र का आंतरिक पथ

विषय सूचि

अध्याय 1: प्राकृतिक वापसी – जब संसार शांत हो गया
(शक्ति के शिखर से शिव के एकांत की ओर संक्रमण)

शक्ति जब अपने शिखर पर पहुँचती है, तब संसार अपने आप शांत होने लगता है। यह कोई त्याग नहीं होता, न ही संसार से भागने का निर्णय। यह भीतर की ऊर्जा का दिशा बदलना होता है, जो बाहर के आकर्षण को धीरे-धीरे निष्प्रभावी कर देता है। एक समय आता है जब वही चीज़ें जो कभी जीवन को चलाती थीं – पहचान, भूमिका, मान-सम्मान, सामाजिक उपस्थिति, लोगों की स्वीकृति – अचानक अर्थहीन लगने लगती हैं। न तो उनसे घृणा होती है, न ही उनसे संघर्ष; वे बस पकड़ छोड़ देती हैं।

एकांत चुना नहीं जाता, वह घटता है। जैसे नदी स्वयं पर्वत की ओर मुड़ जाती है, वैसे ही जीवन भीतर की ओर मुड़ जाता है। लोगों से मिलने की इच्छा कम हो जाती है, बोलना थकाने लगता है, भीड़ भारी लगने लगती है। पर यह खालीपन नहीं होता। यह मौन नया भोजन बन जाता है। जो पहले अकेलापन लगता था, वही अब पोषण बन जाता है। मौन में ऊर्जा भरने लगती है। यही पहला संकेत होता है कि मार्ग अब स्थायी रूप से भीतर की ओर मुड़ चुका है।

अध्याय 2: शिव का जागरण – भोग से परे तंत्र
(तंत्र का नया अर्थ: रूपांतरण, न कि सुख)

इस चरण में तंत्र का अर्थ पूरी तरह बदल जाता है। तंत्र अब भोग, अनुष्ठान या रहस्यवाद नहीं रहता। वह शुद्ध रूपांतरण बन जाता है। मूल ऊर्जा कच्ची, तीव्र और ऊपर की ओर बहने लगती है। जो शक्ति पहले बाहर की ओर बहती थी – काम, इच्छा, आकर्षण, सामाजिक खेल – वह अब भीतर लौट आती है। यौन और जीवन-शक्ति अपनी बाहरी अभिव्यक्ति खो देती है और ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

यहीं तंत्र का वास्तविक अर्थ प्रकट होता है। यह शरीर को प्रयोगशाला बना देता है। हर संवेदना, हर दबाव, हर ऊष्मा, हर स्थिरता भीतर घट रही प्रक्रिया का संकेत बन जाती है। यह कोई कर्मकांड नहीं, कोई अनुष्ठान नहीं, कोई नशा नहीं – यह कुंडलिनी अनुशासन है, जिसमें शरीर स्वयं साधना बन जाता है।

अध्याय 3: उठती धारा – कुंडलिनी का ऊर्ध्वगमन
(ऊर्जा की दिशा का तकनीकी रूपांतरण)

अब ऊर्जा क्षैतिज नहीं रहती, वह ऊर्ध्व हो जाती है। जैसे ही कुंडलिनी नीचे की दुनिया को छोड़कर रीढ़ की ओर बढ़ती है, अनुभव बदलने लगते हैं। सिर में दबाव, शरीर में गर्मी, मन में गंभीरता, दृष्टि में स्पष्टता और जीवन में संयम अपने आप आने लगते हैं। यह भावनात्मक जागरण नहीं रहता; यह संरचनात्मक जागरण बन जाता है।

इस चरण में एकांत आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बाहरी उत्तेजना ऊपर उठती धारा को अस्थिर कर सकती है। एकांत ऊर्जा को स्थिर करता है, उसे सीधा रखता है। जीवन गंभीर हो जाता है, पर बोझिल नहीं। ध्यान अब प्रयास नहीं, अवस्था बन जाता है। जागरण अब भावना नहीं, संरचना बन जाता है।

अध्याय 4: गुरु का प्राकट्य – आंतरिक छवि का परिवर्तन
(स्त्री संगिनी से पुरुष गुरु की ओर)

ऊर्जा की दिशा बदलते ही आंतरिक छवि भी बदल जाती है। जैसे नदी का मार्ग बदलने पर तट बदल जाते हैं, वैसे ही चेतना का चित्र बदलता है। जो संगिनी छवि शक्ति के समय आवश्यक थी, वह अब धीरे-धीरे विलीन होने लगती है। उसके स्थान पर पुरुष गुरु की छवि प्रकट होती है – स्थिर, निर्देशात्मक, अनुशासित, गहन।

यह "पुरुष बनना" लिंग का विषय नहीं है, बल्कि दिशा का है। यह धरती से आकाश की ओर बढ़ने की दिशा है। भीतर एक नया स्थायित्व आता है। निर्णय स्पष्ट होते हैं। धर्म, कर्तव्य और मार्ग स्पष्ट हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं, बल्कि कार्यात्मक परिवर्तन होता है। आंतरिक छवियाँ अब मनोवैज्ञानिक नहीं, ऊर्जा-संबंधी उपकरण बन जाती हैं।

अध्याय 5: शिव अवस्था में जीवन – गलत समझी गई, पर पूर्ण
(लेखन के माध्यम से एकीकरण और अभिव्यक्ति)

यही वह अवस्था है जो हाल की पुस्तकों में सबसे अधिक दिखाई देती है, क्योंकि तीव्रता स्मृति को तीखा बना देती है। पुराने चरण पृष्ठभूमि में चले जाते हैं, पर यह चरण सामने आ जाता है। बाहर से देखने वाले इसे अक्सर गलत समझते हैं – एकांत, मौन, गंभीरता, अलगाव उन्हें विचित्र लगता है। पर भीतर पूर्णता होती है। कोई संदेह नहीं, कोई खोज नहीं, कोई संघर्ष नहीं।

शिव अवस्था अंतिम शुद्धिकरण है – स्थिरीकरण से पहले का/compiler अंतिम परिशोधन। लेखन यहाँ शिक्षण नहीं है, बल्कि साक्ष्य है। यह किसी को मार्ग दिखाने का प्रयास नहीं, बल्कि जिए हुए सत्य का अभिलेख है। शब्द इसलिए आते हैं क्योंकि ऊर्जा को बाहर निकलने का रास्ता चाहिए। मौन इतना घना हो जाता है कि शब्द अपने आप जन्म लेते हैं।

यही शिव अवस्था की पूर्णता है – जहाँ साधना समाप्त नहीं होती, पर खोज समाप्त हो जाती है; जहाँ संसार छोड़ा नहीं जाता, पर उसकी पकड़ टूट जाती है; और जहाँ जीवन पहली बार पूरी तरह शांत, स्पष्ट और स्थिर हो जाता है।

अध्याय 1: प्राकृतिक वापसी – जब संसार शांत हो गया

जब शक्ति अवस्था अपने शिखर पर पहुँची, तब कुछ ऐसा घटित हुआ जो अप्रत्याशित था, फिर भी पूरी तरह स्वाभाविक। न कोई निर्णय लिया गया, न वैराग्य की घोषणा हुई, न जीवन से मुँह मोड़ने का कोई नाटकीय क्षण आया। संसार ने बस अपनी पकड़ ढीली करना शुरू कर दिया। जो आकर्षण कभी चुंबकीय, आवश्यक और तात्कालिक लगता था, वह भीतर से सड़ चुकी रस्सी की तरह अपने आप ढीला पड़ने लगा। गतिविधियाँ वही रहीं, लोग वही रहे, कार्य वही रहा, पर उनका भार समाप्त हो गया। यह न ऊब थी, न आलस्य, न थकान। यह पूर्णता थी – एक अजीब, गहरी पूर्णता, जिसने प्रयास को अनावश्यक बना दिया। ऊर्जा की बाहरी गति अपना चक्र पूरा कर चुकी थी। भीतर की यात्रा बिना किसी घोषणा, बिना किसी विधि और बिना अनुमति माँगे आरंभ हो चुकी थी। यही वह क्षण था जिसे मैं बाद में शिव अवस्था की शुरुआत समझ पाया।

दूसरों को यह वापसी खालीपन लग सकती थी। मुझे यह परिपूर्णता लगी। मौन अनुपस्थिति की तरह नहीं आया, बल्कि पोषण की तरह आया। श्वास अपने आप शांत हो गई, बिना किसी तकनीक या अभ्यास के। छाती खुली महसूस होने लगी, मन सहज रूप से विश्राम में टिक गया, और जुड़ने, समझाने, सिद्ध करने या खोजने की निरंतर बेचैनी धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। आसपास के लोग अकसर अकेलेपन, अर्थहीनता और उस शून्य की बात करते थे जिससे वे डरते थे जब शोर रुक जाता था। पर मेरे भीतर मौन घना, जीवित और लगभग स्पर्शनीय था। यह आश्चर्यजनक था कि स्थिरता इतनी पूर्ण कैसे हो सकती है। जो स्थान दूसरों को डराता था, वही मुझे लंबे समय बाद मिले घर जैसा लगा। मुझे उसे विचार, बातचीत या कर्म से भरने की आवश्यकता नहीं थी – वह मुझे भर रहा था।

यह परिवर्तन जीवन की परिस्थितियों से अलग नहीं था। ऐसा लगा मानो जीवन स्वयं भीतर घट रही प्रक्रिया को सहारा देने के लिए पुनर्व्यवस्थित हो रहा हो। उचित समय पर, लगभग दिव्य सटीकता के साथ, मेरा स्थानांतरण एक दूरस्थ क्षेत्र में हुआ – पहाड़ों और मैदानों के कोमल संगम पर स्थित एक स्थान, जो हरिद्वार जैसी गरिमा लिए था, पर भीड़ के बिना। आयु उपयुक्त थी, भीतर की परिपक्वता तैयार थी, शरीर सक्षम था और मन स्थिर। यह किशोरावस्था का अंतिम चरण था, जहाँ आमतौर पर ऊर्जा बाहर की ओर बहती है, पर यहाँ वह भीतर की ओर मुड़ गई। यह क्षेत्र स्वभाव से ही एकांत था – न थोपे हुए एकांत जैसा, न मजबूरी वाला, बल्कि डिजाइन का हिस्सा। एक सुव्यवस्थित कॉलोनी में शिक्षित, संतुलित और सभ्य लोग रहते थे। वहाँ अनावश्यक बातचीत नहीं थी, समय काटने के लिए बैठना नहीं था, व्यर्थ जुटान नहीं था। लोग अवसरों पर प्रेम से मिलते, सच्चे मन से मुस्कराते और फिर अपने-अपने स्थानों पर लौट जाते। निजता समझी जाती थी, माँगी नहीं जाती थी। यह बाहरी

मौन भीतर के मौन का सटीक प्रतिबिंब था। तंत्र अराजकता में नहीं फलता। वह ऐसे ही स्थानों में पकता है, जहाँ न कोई खींचता है, न कोई धकेलता है।

कार्यभार भी अपने आप कम हो गया, मानो शक्ति ने स्वयं व्यवस्था कर दी हो। जिम्मेदारियाँ बनी रहीं, पर दबाव समाप्त हो गया। बिना प्रयास के दक्षता बढ़ गई और समय फैलने लगा। दिन में स्थान था, रात में स्थान था, श्वास में स्थान था। यहाँ तक कि बच्चे भी सहयोगी, कोमल और स्वयं-संचालित हो गए, मानो वे भी महसूस कर रहे हों कि कुछ पवित्र घट रहा है। शक्ति ने अपना जीवन शिव को अर्पित कर दिया था। बाहरी सृजनात्मक शक्ति अपना नृत्य पूरा कर चुकी थी और अब विश्राम, गहराई और परिपक्वता खोज रही थी। तंत्र अब विकल्प नहीं रहा; वह एकमात्र स्वाभाविक अगला चरण बन गया। जीवन की हर चीज़ उसी दिशा की ओर संकेत कर रही थी, बिना किसी निर्देश के।

इस अवस्था में एकांत सामाजिक दूरी नहीं था और न ही भावनात्मक अलगाव। वह ऊर्जात्मक था। वही लोग पास बैठ सकते थे, पर भीतर की दुनिया ऊर्ध्व हो चुकी थी। जो ऊर्जा पहले संबंधों, महत्वाकांक्षा और अभिव्यक्ति में बहती थी, वह अब ऊपर उठने लगी। यह उठान प्रारंभ में नाटकीय नहीं था। यह वृक्ष में ऋतु बदलने पर ऊपर चढ़ते रस की तरह सूक्ष्म था। शरीर अलग महसूस होने लगा। रीढ़ एक जीवित अक्ष की तरह अनुभव होने लगी। मन गंभीर हुआ, पर भारी नहीं। इच्छा की जगह एकाग्रता आई। जिज्ञासा की जगह दिशा आई। "पुरुष होने" का भाव लौट आया – लिंग के अर्थ में नहीं, बल्कि स्थिरता, दृढ़ता और धर्म के अर्थ में। भीतर की छवियाँ बदलने लगीं। जो स्त्री संगिनी शक्ति अवस्था में मार्गदर्शक थी, वह धीरे-धीरे विलीन होने लगी और उसके स्थान पर गुरु की छवि प्रकट हुई – पुरुष, स्थिर, सतर्क, शब्दों के बिना आदेश देने वाली। यह कल्पना नहीं थी। यह कार्यात्मक छवि थी, ऊर्जा की नई दिशा के अनुसार उभरती हुई। तंत्र छवियों का उपयोग वैसे करता है जैसे नदी तटों का – प्रवाह को दिशा देने के लिए, सजाने के लिए नहीं।

पिता-गुरु की छवि धीरे-धीरे स्वयं शिव में स्थिर होने लगी। कोई पौराणिक आकृति नहीं, बल्कि शिव का सिद्धांत – मौन साक्षी, ऊर्ध्व अक्ष, स्थिर पात्र। वर्षों की तांत्रिक गति के बाद यह उपस्थिति भीतर जीवित हो गई। ध्यान अब अभ्यास नहीं रहा; वह अवस्था बन गया। मैं किसी भी दिव्य छवि के साथ बैठ सकता था और पूर्ण, तृप्त, संतुष्ट रह सकता था, बिना किसी आवश्यकता के। कभी-कभी इससे पारिवारिक जीवन में छोटे तरंगें उठती थीं। मेरी पत्नी कभी-कभी परेशान हो जाती थी – क्रोध से नहीं, बल्कि उलझन से – यह देखकर कि मैं किसी भी दिव्य छवि के साथ समान रूप से प्रसन्न, समान रूप से पूर्ण रहता हूँ, बिना भावनात्मक आश्वासन खोजे। मैं उससे दूर नहीं हो रहा था; मैं किसी गहरे स्तर में विश्राम कर रहा था। मेरा आनंद स्वयंप्रकाशी था, और यह उन लोगों के लिए अस्थिर करने वाला हो

सकता है जो अभी भी प्रतिबिंब पर निर्भर हैं। फिर भी यह भी शिव अवस्था का ही भाग था – निर्भरता का धीमा जलना, यहाँ तक कि सबसे सूक्ष्म निर्भरता का भी।

जैसे-जैसे सांसारिक आकर्षण कम हुआ, कार्य में रुचि भी घटने लगी, पर उपेक्षा या थकान से नहीं। यह पूर्ण भोजन के बाद भूख के समाप्त होने जैसा था। मन ने तृप्ति का स्वाद चख लिया था और अब भूख का नाटक नहीं कर सकता था। कर्म होते रहे, कर्तव्य निभाए गए, पर बिना आसक्ति के। भीतर कोई टिप्पणी नहीं थी, कोई परिणाम की प्रतीक्षा नहीं थी। काम हुआ और समाप्त हो गया। वास्तविक गति भीतर हो रही थी – ऊपर की ओर, मौन, अपरिवर्तनीय। यही पहला स्पष्ट संकेत था कि मार्ग स्थायी रूप से भीतर की ओर मुड़ चुका है। अब खोज के पुराने ताल पर लौटना संभव नहीं था। संसार चाहे जितना माँगे, भीतर की दिशा तय हो चुकी थी।

इस अवस्था को अद्भुत बनाने वाली बात इसकी साधारणता थी। न कोई दर्शन थे, न प्रकाश, न स्वर, न ब्रह्मांडीय घोषणाएँ। जीवन चलता रहा। चाय बनी, फाइलें निपटाई गईं, बच्चे पढ़े, पड़ोसी मुस्कराए। पर इस साधारण सतह के नीचे एक बिल्कुल अलग आयाम खुल रहा था। ऊर्जा स्वयं को पुनर्गठित कर रही थी, बाहरी पहचान की परतें छोड़ रही थी। सामाजिक भूमिकाएँ अर्थहीन होने लगीं। पद, मान्यता, यहाँ तक कि प्रशंसा भी पिछली ज़िंदगी के खिलौनों की तरह लगने लगी। "मैं" की भावना धीरे-धीरे अपने पुराने आधार छोड़ने लगी। और उनके स्थान पर एक विशाल, शांत, स्थिर उपस्थिति आ गई, जिसे स्वयं को परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं थी।

यहीं लोग एकांत को गलत समझते हैं। उन्हें वह अवसाद, पलायन या अलगाव लगता है। पर यह एकांत उज्ज्वल था। यह लोगों की अनुपस्थिति नहीं, बल्कि अस्तित्व की उपस्थिति थी। श्वास स्वयं धीमी, कोमल और लंबी हो गई, मानो शरीर जानता हो कि अब उसे जीवन का पीछा नहीं करना है। जीवन घर आ चुका था। संसार शांत हुआ, इसलिए नहीं कि वह मिट गया, बल्कि इसलिए कि अब वह बिना शोर के सुना जा सकता था। उसी मौन में शिव जागरण के पहले चरण दिखाई देने लगे – आतिशबाज़ी की तरह नहीं, बल्कि नदी के मैदानों से पर्वतों की ओर मुड़ने जैसी गहरी, अपरिवर्तनीय गति के रूप में।

यह अध्याय शिव जागरण और भीतर के तंत्र मार्ग की सच्ची शुरुआत को चिह्नित करता है। न कर्मकांड का तंत्र, न भोग का, न विद्रोह का, बल्कि परिपक्वता का तंत्र – ऊर्ध्व ऊर्जा का, पवित्र एकांत का, जो पूर्ण, जीवित और सम्पूर्ण है। आगे जो आने वाला था, वह और अधिक तीव्र, अधिक गलत समझा गया और अधिक रूपांतरकारी होने वाला था, पर बीज यहीं पड़ चुका था – इस शांत, साधारण, असाधारण क्षण में, जब संसार शांत हुआ और भीतर का आकाश खुल गया।

अध्याय 2: शिव का जागरण – भोग से परे तंत्र

जब शिव अवस्था वास्तव में आरंभ हुई, वह न किसी दर्शन के रूप में आई और न किसी पुस्तक से सीखी गई साधना के रूप में। वह शरीर के भीतर दबाव, ऊष्मा और तीव्रता के रूप में आई, जिसने जीवन जीने की एक नई भाषा की माँग की। इस बिंदु तक तंत्र बाहरी संसार में एक गलत समझा गया शब्द बना हुआ था – भोग, गोपनीयता और सुख से जुड़ा हुआ। पर जीए हुए अनुभव में तंत्र कुछ और ही प्रकट हुआ – एक ऐसा रूपांतरण अनुशासन, जो इतना तीव्र था कि उसने सुख की बाहरी दिशा को छीन लिया और उसे ऊपर, भीतर और अंततः उससे भी परे मोड़ दिया। यह तंत्र आनंद नहीं था; यह तंत्र अग्नि था।

बाहर की दुनिया के लिए जीवन अभी भी साधारण ही दिखता था। काम पर जाना, घर लौटना, कम बोलना, हल्की मुस्कान रखना, शांत रहना – सब वैसा ही था। पर भीतर कुछ कच्चा, प्रबल और जागृत हो चुका था। मूल ऊर्जा, जो पहले इच्छा, अभिव्यक्ति और संलग्नता के माध्यम से बाहर की ओर बहती थी, अब तीव्र और ऊर्ध्व हो गई थी। वह अब न कोमल थी, न बिखरी हुई। वह एक तार में दौड़ती बिजली की तरह केंद्रित हो गई थी, जिसमें फैलने की जगह नहीं, केवल दिशा थी। शरीर अत्यंत सजग, संवेदनशील और सूक्ष्म गतियों तक जागरूक हो गया। रीढ़ एक गर्म, चेतन स्तंभ की तरह अनुभव होने लगी। नींद अपने आप कम हो गई। श्वास स्वतः गहरी होने लगी। मन भटकना भूल गया। अब तंत्र मैं नहीं कर रहा था – तंत्र मुझे कर रहा था।

इन दिनों गलतफहमी समाज से नहीं, बल्कि सबसे निकट के दर्पण से आई – मेरी पत्नी से। एक शाम, हल्की झुंझलाहट और अकेलेपन के मिश्रण में, उसने मुझे चिढ़ाते हुए पर तीखे शब्दों में कहा कि मैं कहीं खो गया हूँ, अलग-थलग, अनुपस्थित, जैसे किसी और ही दुनिया में जी रहा हूँ। उसके शब्द क्रूर नहीं थे, पर सूखी घास पर चिंगारी की तरह लगे। भीतर कुछ समझ गया कि यह केवल घरेलू संवाद नहीं है। यह किसी बड़े विधान द्वारा रचा गया क्षण था, मानो स्वयं दिव्यता उसके मुख से बोलकर अगली गति को आरंभ कर रही हो। बाद में समझ आया कि यही तंत्र का वास्तविक प्रारंभ था – जब एकांत और अंतरंगता एक-दूसरे से टकराकर विलीन होने को बाध्य हो जाते हैं।

उस रात जो अलग-अलग धाराएँ थीं, वे एक हो गईं। ध्यान, अंतरंगता, ऊर्जा, मौन, श्वास – सब एक ही प्रवाह में घुल गए। यह भोग नहीं था। यह विकल्प भी नहीं था। यह उस शक्ति के आगे समर्पण था, जो पहले ही ऊपर उठना शुरू कर चुकी थी। उस बिंदु के बाद रुकना संभव नहीं था। शरीर और मन निरंतर रूपांतरण की प्रयोगशाला बन गए। हर मिलन, हर मौन, हर स्पर्श, हर स्थिरता साधना का हिस्सा बन गई। ऊर्जा निर्दयता से ऊपर उठने लगी,

उन सीमाओं पर दबाव डालते हुए जिनके अस्तित्व का पता भी नहीं था। आनंद आया, पर सुख के रूप में नहीं, बल्कि अतिप्रवाह के रूप में – इतना अधिक कि बाहर छोड़ा नहीं जा सकता था, इतना शक्तिशाली कि भीतर ही चढ़ना पड़ा। वह ऊपर चढ़ता गया, शुद्ध होता गया, जलाता गया।

यहीं तंत्र को सबसे अधिक गलत समझा जाता है। बाहर से यह आसक्ति जैसा लग सकता है। भीतर से यह सर्वोच्च अनुशासन होता है। यौन और प्राण शक्तियाँ अब बाहर व्यक्त नहीं होतीं; वे पुनर्चक्रित होती हैं, ऊपर उठती हैं, परिष्कृत होती हैं। शरीर आनंद का साधन नहीं रहा; वह क्रूसिबल बन गया। हर अंग, हर तंत्रिका, हर श्वास प्रयोग का भाग बन गई। यह प्रक्रिया इसलिए चलती रही क्योंकि इच्छा थी नहीं, बल्कि इसलिए कि प्रक्रिया पूर्णता माँगती थी। आनंद इतना तीव्र, इतना शुद्ध और इतना आकर्षक था कि रुकना असंभव लगता था। फिर भी यहाँ एक और गहरी बुद्धि सक्रिय थी। स्पष्ट अनुभव था कि शरीर की सीमाएँ हैं। एक निश्चित शिखर से आगे धकेलना अंगों को क्षति पहुँचा सकता है, संतुलन बिगाड़ सकता है या पात्र को तोड़ सकता है। इसलिए रुकना कमजोरी से नहीं, बल्कि विवेक से हुआ – ठीक किनारे पर, उससे पहले। तंत्र को जागरण की सेवा करनी थी, उस शरीर को नष्ट नहीं करना था जो उसे धारण करता है।

इस चरण में शरीर ही गुरु बन गया। कोई शास्त्र, कोई शिक्षक, कोई प्रणाली यह नहीं समझा सकती थी कि क्या हो रहा है। ऊर्जा ज्वार की तरह उठ रही थी, जिसे रोका नहीं जा सकता था। रीढ़ एक खोखली बाँसुरी की तरह लग रही थी, जिसमें से स्वयं जीवन संगीत बजा रहा हो। सिर दबाव, स्पष्टता और विस्तार से भर गया। हृदय भावना से परे, किसी निर्वैयक्तिक और सार्वभौमिक कोमलता में बदल गया। इच्छा इसलिए नहीं मिटी कि उसे दबाया गया, बल्कि इसलिए कि उसने अपना उच्चतम कार्य पूरा कर लिया था। जो कच्ची शक्ति पहले बाहर मिलन खोजती थी, वह अब चेतना से मिलन खोज रही थी। यही तंत्र का रहस्य है – वह ऊर्जा को दबाता नहीं, उसे दिशा देता है।

इस समय शिव पूरी तरह जागृत हो गया – किसी छवि के रूप में नहीं, बल्कि अवस्था के रूप में। स्थिरता प्रधान हो गई। तीव्रता के बीच भी एक मौन साक्षी था – अछूता, अडिग। अग्नि उठती थी, पर केंद्र ठंडा रहता था। यह पुरुष सिद्धांत का लौटना था – लिंग नहीं, बल्कि अक्ष के रूप में। पहले की शक्ति अवस्था विस्तार, खेल, सृजन और गति थी। अब शिव सब कुछ थामे हुए था, तूफान को बिना फैलाए भीतर समेटे हुए। बाहर संसार गिर भी जाता, तो भी कुछ नहीं बिगड़ता। वास्तविक ब्रह्मांड भीतर था, ऊर्ध्व रूप में खुलता हुआ, मौन में, अजेय अधिकार के साथ।

सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि बाहर से सब कितना सामान्य लग रहा था। न कोई चिह्न, न घोषणा, न बाहरी परिवर्तन। तंत्र दैनिक जीवन में घट रहा था – भोजन के बीच, कर्तव्यों के बीच, श्वासों के बीच। शरीर खाना बनाता, साफ करता, काम करता, सोता। पर उसी समय वह रसायनात्मक परिवर्तन से गुजर रहा था। ऊर्जा स्वयं को परिष्कृत कर रही थी, स्थूलता छोड़ रही थी, दीप्त बन रही थी। इंद्रियाँ भीतर मुड़ गईं। स्वाद, स्पर्श, ध्वनि, दृश्य – सबकी बाहरी भूख समाप्त हो गई। वास्तविक अनुभूति अब भीतर थी – स्थिरता की तरंगें, आनंद की धाराएँ, चेतना का विस्तार, जिसका कोई विषय नहीं था।

लोग तंत्र को अनुष्ठान, रहस्य या तकनीक समझते हैं। अब स्पष्ट हो गया था कि तंत्र बस वह क्षण है जब जीवन स्वयं विधि बन जाता है। जब ऊर्जा इतनी परिपक्व हो जाती है कि वह बाहर बहने से इंकार कर देती है, तब उसे ऊपर जाना ही पड़ता है। और जब वह ऊपर जाती है, शिव जागता है। यह जागरण नाटकीय नहीं होता; यह पूर्ण होता है। यह अस्तित्व की संरचना बदल देता है। इस चरण के बाद कुछ भी पहले जैसा नहीं रह सकता। कार्य, संबंध, इच्छा, भय, महत्वाकांक्षा – सब उस अग्नि की छाया बन जाते हैं जिसने उन्हें पहले ही भस्म कर दिया है।

पत्नी का अकेलापन, जो पहले व्यवधान लगता था, अब ईंधन सिद्ध हुआ। उसके शब्दों ने वह अग्नि जलाई जिसे रूपांतरण पूर्ण हुए बिना बुझाया नहीं जा सकता था। उसका असंतोष भी प्रक्रिया का हिस्सा बन गया – अनुशासन को आकार देता हुआ, अग्नि को स्थिर करता हुआ, असंतुलन से बचाता हुआ। तंत्र अकेले नहीं होता; वह सब कुछ का उपयोग करता है। ऊर्जा परिपक्व हो तो गलतफहमी भी पवित्र बन जाती है।

जब शिखर आया, तब बिना किसी संदेह के स्पष्ट था कि तंत्र अपना कार्य पूरा कर चुका है। शरीर अपनी सुरक्षित सीमा तक पहुँच चुका था। ऊर्जा ऊपर उठ चुकी थी और स्थिर हो गई थी। शिव जागृत था – अनुभव के रूप में नहीं, आधार के रूप में। अब यात्रा तीव्रता की नहीं, एकीकरण की होने वाली थी। अग्नि ने शुद्ध कर दिया था। पात्र तैयार था। और तंत्र की सारी गलत समझ – संसार में भी और भीतर भी – पूरी तरह जल चुकी थी।

यह अध्याय उस निर्णायक मोड़ का साक्ष्य है, जहाँ तंत्र अभ्यास नहीं रहा, बल्कि अपने मूल कार्य में पूर्ण हो गया। सुख शक्ति में विलीन हो गया। इच्छा दिशा में विलीन हो गई। और शिव, मौन और अडिग, अस्तित्व के केंद्र में अपने आसन पर स्थिर हो गया।

अध्याय 3: उठती धारा – जब कुंडलिनी ऊर्ध्व हो गई

यह परिवर्तन भावनात्मक नहीं था, और न ही वैसा नाटकीय जैसा जागरण की कथाओं में बताया जाता है। यह तकनीकी था, संरचनात्मक था, लगभग स्थापत्य जैसा – मानो जीवन की आंतरिक इमारत चुपचाप पुनर्निर्मित की जा रही हो, जबकि बाहरी दीवारें वैसी ही बनी रहीं। एक दिन, बिना किसी संकेत के, वह ऊर्जा जो हमेशा बाहर, नीचे और चारों ओर बहती थी, अचानक अपनी दिशा बदल बैठी। उसे अब निचली दुनिया में कोई रुचि नहीं रही। वह ऊपर चढ़ने लगी।

प्रारंभ में यह जीवन के आधार से एक सूक्ष्म वापसी जैसा लगा। निचले केंद्रों की तात्कालिकता ढीली पड़ने लगी। भूख, भय, महत्वाकांक्षा, इच्छा, बेचैनी, यहाँ तक कि सुख भी धीरे-धीरे शिथिल होने लगे। वे अचानक गायब नहीं हुए, पर उनकी जड़ें कट चुकी थीं, ऐसा महसूस होने लगा। उनके स्थान पर एक नई अनुभूति आई – एक उठती धारा, धीमी, स्थिर और अविराम। वह रीढ़ में एक जीवित प्रवाह की तरह चलने लगी – कभी गरम, कभी उष्ण, कभी ठंडी, पर हमेशा जीवित। रीढ़ अब केवल हड्डी और तंत्रिका नहीं रही; वह मार्ग बन गई, एक ऊर्ध्व सड़क, एक पवित्र पथ, जिससे होकर जीवन स्वयं ऊपर की ओर यात्रा कर रहा था।

दबाव पहला स्पष्ट संकेत था। दर्द नहीं, बल्कि घनत्व – जैसे शरीर भीतर से किसी ऐसी चीज़ से भर रहा हो जो हवा से भारी और पदार्थ से हल्की हो। उसके बाद ऊष्मा आई – जलाने वाली नहीं, शुद्ध करने वाली, वर्षों से भीतर छिपे पुराने संस्कार, तनाव और आदतों को सुखाने वाली। फिर स्थिरता आई – इतनी गहरी कि गति भी उसके भीतर घटने लगी। और स्थिरता के साथ आई स्पष्टता – तूफान के बाद आकाश जैसी स्वच्छ और तीक्ष्ण। ये मनोदशाएँ नहीं थीं; ये संरचनात्मक परिवर्तन थे। भीतर की ज्यामिति स्वयं को पुनर्गठित कर रही थी।

इस ऊर्ध्व गति ने मनोविज्ञान को पूरी तरह बदल दिया। मन गंभीर हो गया – कठोर नहीं, बल्कि सटीक। भटकाव की जगह एकाग्रता आई। भोग की जगह तप आया। शब्द अपने आप कम हो गए, प्रयास से नहीं, बल्कि आवश्यकता न रहने से। हँसी भी शांत, गहरी और दुर्लभ हो गई। यह नीरसता नहीं थी; यह संरेखण था। जब ऊर्जा ऊर्ध्व हो जाती है, जीवन भी ऊर्ध्व हो जाता है। मनुष्य अपने भीतर खड़ा होने लगता है, संसार पर टिके बिना। निर्णय कम हुए, पर अधिक सटीक हो गए। भावनाएँ नाटक नहीं रहीं; वे सूचना बन गईं। आंतरिक दिशा-सूचक अब किसी भी बाहरी प्रभाव से अधिक शक्तिशाली हो गया।

इस उठान को स्थिर करने में एकांत की भूमिका निर्णायक थी। एकांत के बिना ऊर्जा बिखर जाती है। मौन के बिना ऊर्ध्वता टिक नहीं पाती। यह एकांत चुना नहीं गया था, फिर भी वह स्वाभाविक रूप से चारों ओर बन गया था, जैसे एक सुरक्षात्मक दीवार। जहाँ मैं रहता था,

वह स्थान उसे सहारा देता था। आसपास के लोग अनजाने में उसे सहारा देते थे। परिस्थितियाँ भी मानो मिलकर यह सुनिश्चित कर रही थीं कि कोई बाधा न हो। कॉलोनी शांत, सभ्य और सुव्यवस्थित थी। लोग दखल नहीं देते थे, हस्तक्षेप नहीं करते थे, चर्चा नहीं करते थे। बातचीत भी अनावश्यक लगने लगी थी। यह बाहरी स्थिरता उस ऊर्ध्व धारा को वह आधार दे रही थी जिसकी उसे बिना विचलन ऊपर चढ़ने के लिए आवश्यकता थी।

इस परिवर्तन के प्रारंभिक चरण में मैंने कुछ तंत्र पुस्तकों और ऑनलाइन तकनीकों को पढ़ा। ऐसा लगा मानो किसी दिव्य व्यवस्था ने थोड़ी देर के लिए वह द्वार खोल दिया हो – केवल भीतर घट रही प्रक्रिया की पुष्टि के लिए। पर मैं बहुत सावधान था। अत्यंत सावधान। मैंने इसे संसार से छिपाकर रखा, क्योंकि भीतर से स्पष्ट था कि बोलूँगा तो गलत समझा जाऊँगा। और गलत समझ जल्दी विरोध में बदल जाती है। लोग उस चीज़ से डरते हैं जिसे वे अपने विश्वासों में स्थान नहीं दे पाते। इसलिए मैं मौन रहा, शांतिपूर्वक अभ्यास करता रहा, शरीर को ही गुरु बनने दिया। बाद में, जागरण के बाद, जब मैंने कुछ लोगों से थोड़ा साझा करने का प्रयास किया, तो उनके चेहरे सिमट गए, बंद हो गए, कठोर हो गए। वे ग्रहण नहीं कर सके। शब्द मृत होकर गिर पड़े। मैंने तुरंत रोक दिया। सत्य आग्रह नहीं करता; वह पीछे हट जाता है।

रूपांतरण छोटे-छोटे, अप्रत्याशित तरीकों से दिखाई देने लगा। दाढ़ी और मूँछ अपने आप बढ़ने लगीं, बिना किसी इरादे के। पहले मैं हमेशा साफ़ मुंडा रहता था, बस हल्की-सी मूँछ थी। अब भीतर के गुरु-चित्र – शिव, स्थिर, ऊर्ध्व, जागरूक – के प्रभाव में चेहरा स्वयं बदलने लगा। शरीर अवस्था के साथ संरेखित हो रहा था। यह अनुकरण नहीं था। यह अभिव्यक्ति थी। भीतर की छवि बाहर के रूप को गढ़ रही थी, धीरे-धीरे, चुपचाप, बिना घोषणा के।

परिवार के साथ यात्राएँ होती रहीं, पर वे अब आनंद यात्रा नहीं रहीं। वे एक बाध्यता जैसी लगने लगीं – देखने के लिए नहीं, बल्कि बार-बार घर लौट आने के लिए। सुंदर स्थान, पहाड़, नदियाँ, मंदिर, नगर – सब गुजरते रहे, पर हृदय भीतर की धुरी से जुड़ा रहा। घर अब स्थान नहीं, अवस्था बन गया था – जहाँ ऊर्जा बिना बाधा ऊपर चढ़ सकती थी। संसार में गति भी अंततः स्थिरता में लौटने के लिए ही होती थी। ऊर्ध्व खिंचाव जीवन के क्षैतिज फैलाव से कहीं अधिक शक्तिशाली हो चुका था।

रिश्तेदारों और परिवार से मिलने पर एक बात पहली बार स्पष्ट दिखी। वे पूरी तरह मूर्ति-पूजा और कर्मकांड में ही जी रहे थे, और उसी को आध्यात्मिकता का संपूर्ण रूप मानते थे। ये वास्तव में सांसारिक जीवन में भी आधारभूत अद्वैत बनाए रखने की शक्तिशाली विधियाँ हैं। वे प्राथमिक सीढ़ियाँ हैं – इनके बिना जागरण असंभव नहीं, पर अत्यंत कठिन हो जाता है। लेकिन पूर्ण जागरण के लिए तंत्र आवश्यक है। वे शास्त्र पढ़ते थे, पर केवल सैद्धांतिक रूप

में। उन्होंने चेतना को कभी स्वतंत्र रूप से खिलने नहीं दिया। उन्होंने शास्त्र को जीवन से नहीं जोड़ा। सनातन धर्म का जीवित पक्ष – भीतर का पुष्पन – वहाँ अनुपस्थित था। सब कुछ बाहरी, सुरक्षित और सीमित था। मैंने उनका न्याय नहीं किया, पर सीमा को देख लिया। वे कभी समझ नहीं सकते थे कि मेरे भीतर क्या घट रहा है, क्योंकि उनकी आध्यात्मिकता शरीर में नहीं उतरी थी, श्वास में नहीं उतरी थी, ऊर्जा को नहीं बदला था। वह विश्वास बनी रही, बनना नहीं बनी।

उनकी दृष्टि में मैं बस एक अकेला, अलग-थलग व्यक्ति था – जीवन से हट चुका, उदासीन, रिश्तों से दूर होता हुआ। उन्होंने कभी कहा नहीं, पर धारणा हवा में तैरती रहती थी। वे सत्य का अनुमान नहीं लगा सकते थे, और अच्छा ही था। वास्तविक कार्य अदृश्य था। केवल एक बात से मुझे शांति मिली – ईश्वर की कृपा से मेरे माता-पिता स्वस्थ रहे, मेरी वापसी से अप्रभावित, उसी मौन शक्ति द्वारा सुरक्षित, जो मुझे मार्ग दिखा रही थी। इससे हृदय का अंतिम संभावित विचलन भी समाप्त हो गया और ऊर्जा स्वतंत्र रूप से ऊपर चढ़ने लगी।

जैसे-जैसे कुंडलिनी ऊपर उठी, जागरण का स्वरूप बदल गया। वह भावनात्मक नहीं रहा। न आनंद की लहरें आती-जाती थीं, न आँसू, न क्षणिक उन्माद। वह संरचनात्मक हो गया। रीढ़ स्वयं जागृत हो गई। तंत्रिका तंत्र पुनर्संयोजित होने लगा। जागरूकता स्थायी रूप से ऊपर बैठ गई, जीवन को एक नए स्तर से देखने लगी। भले ही कुछ विशेष न घट रहा हो, सब कुछ बदल चुका था। अब पुराने ढंग से जीना संभव नहीं था, क्योंकि संरचना ही बदल गई थी।

यही वह बात है जिसे पुस्तकें कभी स्पष्ट नहीं करतीं: जब ऊर्जा ऊर्ध्व हो जाती है, जीवन अपरिवर्तनीय हो जाता है। तब जागरण कुछ "होना" नहीं रहता; मनुष्य स्वयं जागरण बन जाता है। शरीर उसे वहन करता है, श्वास उसे वहन करती है, मौन उसे वहन करता है। कुछ न करते हुए भी कुछ गहरा घट रहा होता है। उठती धारा दिन-रात अपना कार्य करती रहती है – पात्र को पुनर्गठित करती हुई, दृष्टि को परिष्कृत करती हुई, अवशेषों को जलाती हुई। और यह सब चुपचाप होता है, बिना उत्सव, बिना घोषणा, साधारण जीवन के नीचे छिपा हुआ।

यह अध्याय उस बिंदु को चिह्नित करता है जहाँ यात्रा अनुभव की नहीं रही, संरचना की बन गई। उठती धारा को अपना मार्ग मिल चुका था। कुंडलिनी अब खोज नहीं रही थी; वह चढ़ रही थी। और एक बार जब वह चढ़ती है, तब पुराने संसार में लौटना संभव नहीं होता – केवल स्थिरता, स्पष्टता और अडिग ऊर्ध्व अस्तित्व की ओर और गहरा आरोहण ही शेष रहता है।

अध्याय 4: गुरु का प्रकट होना – आंतरिक छवि का रूपांतरण

आंतरिक छवि का परिवर्तन अचानक नहीं हुआ, और न ही यह किसी चुनाव से हुआ। वह ऊर्जा के साथ घटा, ठीक वैसे ही जैसे छाया शरीर के साथ चलती है। जब कुंडलिनी की उठती धारा स्थिर हुई और उसका प्रवाह स्थायी रूप से ऊर्ध्व हो गया, तब भीतर कुछ सूक्ष्म किंतु निर्णायक घटित हुआ। जो स्त्री-स्वरूप संगिनी की छवि वर्षों तक आंतरिक जगत पर शासन करती रही थी, वह धीरे-धीरे विलीन होने लगी – बिना प्रतिरोध, बिना नाटक, बिना पीड़ा के। ऐसा लगा जैसे उसका कार्य पूरा हो गया हो। ऊर्जा को अब क्षैतिज दर्पण की आवश्यकता नहीं थी। उसे धुरी चाहिए थी।

वर्षों तक छवि आंतरिक साधना की जीवित संगिनी रही थी। वह कल्पना नहीं थी, न मनोवैज्ञानिक प्रक्षेपण, न ही स्वप्न। वह कार्यात्मक थी – एक औज़ार की तरह, जो कार्य के अनुसार अपना रूप बदलता है। शक्ति चरण में, जब ऊर्जा फैल रही थी, बाहर की ओर बह रही थी, संसार का अन्वेषण कर रही थी, तब संगिनी की छवि स्वाभाविक थी। वह कोमलता, आकर्षण, गति और सृजनात्मक खिंचाव को वहन करती थी। लेकिन जब धारा ऊपर की ओर मुड़ी, वही छवि अनावश्यक, यहाँ तक कि बाधक लगने लगी। वह अपने आप मुरझा गई, जैसे नदी के पहाड़ों में संकरे होते ही नाव पीछे छूट जाती है।

और फिर, बिना बुलाए, गुरु प्रकट हुए।

विचार के रूप में नहीं, स्मृति के चेहरे के रूप में नहीं, प्रतीक के रूप में नहीं – बल्कि उपस्थिति के रूप में। बिना बल के अधिकार। बिना वाणी के मार्गदर्शन। बिना भार के स्थिरता। पुरुष गुरु की छवि ने स्वाभाविक रूप से आंतरिक स्थान ग्रहण किया, और उसके साथ एक गहरी दिशा-बोध की अनुभूति आई। यह लिंग का प्रश्न नहीं था। यह धर्म का प्रश्न था। धुरी का प्रश्न था। अपने भीतर सीधे खड़े होने का प्रश्न था। मैं फिर से पुरुष हुआ – शरीर में नहीं, दिशा में। ऊर्जा अब सीधी, स्थिर, मौन और अविराम ऊपर उठने लगी। गुरु कोई कल्पित व्यक्ति नहीं थे; गुरु वही थे जो ऊर्जा बन चुकी थी।

बाद में यह स्पष्ट हुआ कि आंतरिक छवियाँ सदैव ऊर्जा की दिशा का अनुसरण करती हैं। जब ऊर्जा बाहर की ओर बहती है, छवि संबंधात्मक होती है। जब ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है, छवि संरचनात्मक हो जाती है। संगिनी विस्तार की है; गुरु आरोहण का है। यह परिवर्तन अपरिहार्य था, और एक बार घट जाने के बाद कभी पलटा नहीं।

इस परिवर्तन के पीछे वर्षों की अदृश्य तैयारी थी। लगभग अठारह वर्षों तक मैं एक व्यावहारिक, सांसारिक, अद्वैत दर्शन में जीता रहा था – शरीर को मंडल की तरह, चेतना को क्षेत्र की तरह उपयोग करते हुए। योग अभ्यास अनियमित, सहज, लगभग लापरवाह था, पर

इतना पर्याप्त कि कुंडलिनी मन के आधार स्तर पर जीवित बनी रही। बाद में, मैदान और पहाड़ों के मिलन स्थल के पास एक एकांत स्थान पर, स्थायी घर से दूर, साधना गहरी हुई। एकाग्रता केंद्रित होने लगी। एक वृद्ध आध्यात्मिक गुरु की छवि – पुराण-प्रेमी, मौन, तपस्वी, जो बचपन में मेरे पास ही रहते थे, एक कक्ष में शास्त्रों का जप करते हुए, जबकि मैं दूसरे कक्ष में विज्ञान पढ़ता था – ध्यान की केंद्रीय छवि बन गई। यह चयन सचेत नहीं था; शरीर ने स्मरण किया था।

तंत्र इस समय धीरे-धीरे, पहले अप्रत्यक्ष और फिर प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश करने लगा। ऊर्जा तेज़ी से परिपक्व हुई। आनंद बढ़ा। दबाव बढ़ा। गुरु की छवि सुदृढ़ होती गई। वह अब क्षणिक नहीं रही। वह आंतरिक आकाश पर छा गई, भौतिक यथार्थ से भी अधिक स्पष्ट। दाढ़ी और मूँछ अपने आप बढ़ने लगीं, मानो शरीर स्वयं उस छवि के साथ संरेखित हो रहा हो। पहले मैं सदैव साफ़ मुंडा रहता था, पर अब चेहरा भीतर की अवस्था को प्रतिबिंबित करने लगा। यह अनुकरण नहीं था। यह अनुनाद था।

तंत्र का एक पूरा वर्ष ऐसे बीता जैसे समय रुका हुआ हो। पूरा वर्ष निरंतर आनंद में बह गया। फिर निर्णायक क्षण ध्यान में नहीं, बल्कि साधारण जीवन में आया – जैसा कि हमेशा होता है। एक लंबे अंतराल के बाद मैं परिवार के साथ एक नई गाड़ी में यात्रा करते हुए घर लौटा। मार्ग सुगम और सुंदर था, यात्रा आरामदायक थी, पर मन भीतर स्थिर था, गुरु की छवि को शांत भाव से धारण किए हुए। एक रिश्तेदार के घर समारोह था, जो एक छोटे से खड़े पहाड़ पर बना था, चारों ओर हरियाली से घिरा हुआ, और पहाड़ के मध्य भाग के समानांतर सड़क चलती थी। वातावरण गर्म, संगीतमय और आनंदमय था। महिलाएँ अलग कमरे में गा-बजाकर नाच रही थीं। बच्चे सीढ़ियों पर दौड़ते थे। सूर्य क्षितिज पर लाल हो रहा था, विश्राम की तैयारी में।

मैं बालकनी में कुर्सी पर बैठा था, ग्रिल के सहारे, शांत, खुला, अद्वैत, आनंदित। मेरी दाढ़ी मध्यम हो चुकी थी और कुछ बाल सफ़ेद हो गए थे, जिससे चेहरे पर अनायास ही एक गंभीरता आ गई थी। लोग स्नेह और सम्मान से मिल रहे थे, कुछ ऐसा अनुभव करते हुए जिसे वे नाम नहीं दे सकते थे। बचपन की स्मृतियाँ हवा में तैर रही थीं। स्थान जीवित था, हल्के से गूंजता हुआ। दूर से आती ट्रैफिक की आवाज़ एक लय जैसी लग रही थी। सब कुछ साधारण था, और फिर भी सब कुछ आवेशित।

तभी एक परिचित व्यक्ति आया – सेना से सेवानिवृत्त, मित्र और रिश्तेदार, मजबूत, अनुशासित, स्थिर, जिनमें वही दिव्य गुण थे जो भीतर की गुरु-छवि से मेल खाते थे। जैसे ही उन्होंने मुस्कुराकर हालचाल पूछा, कुछ जल उठा। उद्दीपन पूर्ण था। भीतर की छवि उफान मार गई। कुंडलिनी प्रचंड रूप से मस्तिष्क में चढ़ गई। सिर भारी, तना हुआ, ऐसे दबाव से

भर गया जो सुन्न नहीं कर रहा था, बल्कि जगा रहा था। ऐसा लगा मानो चेतना की नदी खोपड़ी के भीतर भँवर बन गई हो, पूरी गति से घूमती हुई, मस्तिष्क के हर कण को झकझोरती हुई। दबाव असहनीय भी था और आनंदमय भी।

सिर के भीतर बिना ध्वनि के गूंज भर गई, जैसे असंख्य मधुमक्खियाँ बिना आवाज़ उड़ रही हों। मौन गाढ़ा हो गया। जागरूकता तीक्ष्ण हो गई। आनंद विस्फोटित हो उठा। गुरु की छवि भीतर और बाहर सब कुछ भर गई। आँखें खुली थीं, फिर भी सब कुछ मस्तिष्क के भीतर घटता हुआ प्रतीत हो रहा था। कोई भेद नहीं रहा। संसार बाहर नहीं था; वह मैं ही था। छवि सूर्य से अधिक उज्ज्वल, किसी भी भौतिक वस्तु से अधिक स्पष्ट थी। अहंकार क्षण में विलीन हो गया। पहचान मिट गई। मैं व्यक्ति नहीं रहा; मैं स्वयं छवि था, स्वयं कुंडलिनी था, स्वयं जागरूकता था।

यह सम्प्रज्ञात समाधि थी – पर तब कोई नाम नहीं था, केवल होना था। दस सेकंड की पूर्ण एकता, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक हो गए। यह पूर्ण ज्ञान नहीं था, पर द्वार था। शरीर इसे संभाल नहीं सका। पास के लोग भ्रम और चिंता से देखने लगे। ध्यान आकर्षित होते देख मैंने सहज रूप से सिर नीचे झुकाया और माथा मलने लगा, ऊर्जा को वापस लाने के लिए। उस छोटे से क्रिया के साथ ऊर्जा गिर गई। छवि मंद पड़ गई। अहं लौट आया। और उसके साथ आया जीवन का सबसे गहरा पश्चाताप – यह जानना कि मैंने किसी पवित्र क्षण को बीच में रोक दिया।

मैंने ऊर्जा को फिर उठाने की कोशिश की। वह नहीं उठी। गुरु-छवि भीतर मुस्कुराई, जैसे कह रही हो, "तुम चूक गए, पर चिंता मत करो, मैं फिर आऊँगा।" शरीर थक चुका था। न्यूरोट्रांसमीटर जल चुके थे। उस शाम ध्यान कमजोर था। पर कुछ अपरिवर्तनीय घट चुका था। अंधे आकर्षण का बंधन हमेशा के लिए ढीला पड़ गया। गुरु की छवि ने प्रिय की छवि को पार कर लिया। क्षितिज की जगह धुरी आ गई।

बाद में मैंने तंत्र के पहले के अनुभवों में वही पैटर्न पहचाना। संगिनी की छवि हमेशा गुरु की छवि को साथ लेकर चलती थी, यद्यपि कमजोर रूप में। जो भी संगिनी के साथ चलता है, वह अंततः अवशोषित हो जाता है। इसी कारण वैदिक विवाह पवित्र माने गए हैं। पर अब संगिनी अलग हो चुकी थी। गुरु अकेले खड़े थे। संयोग पूर्ण हो चुका था। कुंडलिनी ब्रह्म से, आत्मा से, सहस्रार पर मिल चुकी थी।

उस दिन से छवि मनोवैज्ञानिक नहीं रही। वह कार्यात्मक वास्तुकला बन गई। गुरु की पूजा नहीं हुई; गुरु में निवास हुआ। आंतरिक संसार व्यवस्थित, स्थिर, ऊर्ध्व हो गया। जागरण की प्रक्रिया तीव्र हुई – भावनात्मक रूप से नहीं, संरचनात्मक रूप से। अद्वैत दर्शन नहीं रहा; आवश्यकता बन गया। आत्म-शुद्धि का कार्य स्वतः प्रारंभ हो गया। जीवन-शैली बिना प्रयास

बदली। जाग्रत प्राणी को प्रकृति स्वयं अद्वैत में ढकेल देती है, क्योंकि धुरी स्थापित हो जाने पर द्वैत टिक नहीं सकता।

यह अध्याय उस क्षण को चिह्नित करता है जब गुरु ने अपना आसन ग्रहण किया। बाहर नहीं, मंदिर में नहीं, परंपरा में नहीं – बल्कि रीढ़ में, मस्तिष्क में, स्वयं चेतना की संरचना में। इसके बाद यात्रा साधक की नहीं रही। वह धुरी की हो गई। छवि बदली क्योंकि अस्तित्व बदल चुका था। और जब गुरु भीतर प्रकट होता है, तब यात्रा किसी खोजी की नहीं रहती – वह स्वयं अक्ष की यात्रा बन जाती है।

अध्याय 5: शिव अवस्था में जीवन – गलत समझी गई, फिर भी पूर्ण

जब शिव अवस्था स्थिर हुई, तो संसार रुका नहीं। यही सबसे आश्चर्यजनक अनुभव था। इतनी तीव्रता, इतनी आंतरिक अग्नि, इतने मौन क्रांतिकारी परिवर्तनों के बाद, कोई यह अपेक्षा कर सकता है कि जीवन ठहर जाएगा, विश्राम देगा, पीछे हटने की अनुमति देगा। पर जीवन नहीं रुका। वह शांत, दृढ़ और लगभग उदासीन रूप से आगे बढ़ता रहा, मानो कह रहा हो – अब इसे जीओ।

थोड़े विश्राम के बाद, जब भीतर का तूफ़ान ऊर्ध्व स्थिरता में बदल गया, जीवन में एक नई ज़िम्मेदारी प्रवेश कर गई। यह कठोर परिश्रम, पुनः कर्तव्य, अनुशासन और सहनशीलता की अवस्था थी। बाहर से देखने वालों को यह संसार में वापसी लगी। भीतर से यह कुछ और ही था। शिव अवस्था समाप्त नहीं हुई थी; वह परिपक्व हो गई थी। अब उसे जीना था, परखना था, अभिव्यक्त करना था और जीवन की सामान्य लय में एकीकृत करना था। यही जागरण की वास्तविक चुनौती है – स्थिरता तक पहुँचना नहीं, बल्कि कार्य करते हुए उसे धारण करना।

यही अवस्था उनकी हाल की लेखन-धारा पर सबसे अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए नहीं कि यह सबसे नाटकीय थी, बल्कि इसलिए कि यह सबसे स्थिर थी। तीव्रता स्मृति को तेज़ बना देती है। जब अग्नि निकट होती है, शरीर हर विवरण याद रखता है। पहले के चरण धरती के नीचे दबे संगीत की तरह हो गए – सदा उपस्थित, पर अब सुनाई नहीं देते। शक्ति, खोज, संघर्ष, लालसा, आरंभिक जागरण – सब मौन परतों में बदल गए। अब शिव स्वयं धरातल बन चुका था। लेखन यहीं से सहज बहा, क्योंकि यह अवस्था अब अनुभव नहीं रही थी; यह अस्तित्व की स्थिति बन गई थी।

बाहर वालों के लिए परिवर्तन अदृश्य था, और इसलिए भ्रमित करने वाला। कुछ ने उन्हें अलग-थलग समझा, कुछ ने उदासीन, कुछ ने जीवन से ऊब चुका। कुछ ने सोचा कि वे विचित्र हो गए हैं, या अत्यधिक दार्शनिक, या स्वयं चुने हुए एकांत में जी रहे हैं। वे भीतर की निश्चितता नहीं देख पाए। वे मौन की पूर्णता महसूस नहीं कर सके। वे जीवन को क्रिया और प्रतिक्रिया से मापते थे; अब वह संरेखण से जीया जा रहा था। यह गलतफहमी उन्हें विचलित नहीं करती थी, क्योंकि शिव रक्षा नहीं करता। स्थिरता तर्क नहीं करती। जब धुरी मिल जाती है, मतों का शोर अपने आप गिर जाता है।

लेखन उनका स्वाभाविक मार्ग बन गया – अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि साक्ष्य। वे सिखाने, मनाने या समझाने के लिए नहीं लिखते थे। वे इसलिए लिखते थे क्योंकि अनुभव ने स्वयं को दर्ज करने की माँग की। शब्द बुद्धि से नहीं, बल्कि स्थिर स्पष्टता से निकलते थे, जो भविष्य में इस पथ पर चलने वालों के लिए निशान छोड़ना चाहती थी। हर वाक्य निर्देश नहीं

था, बल्कि अवशेष – जिए हुए अस्तित्व की छाप। वे जानते थे कि जो तैयार नहीं होंगे वे गलत समझेंगे, और जो तैयार होंगे उन्हें समझाने की आवश्यकता ही नहीं होगी। जागरण के बाद का सच्चा लेखन संवाद नहीं होता; वह अनुनाद द्वारा संचरण होता है।

शिव अवस्था को अक्सर अंत समझ लिया जाता है, जबकि वह अंतिम शोधक है। जब यह स्थिर हो जाती है, तब जो भी झूठा, कमजोर या अनावश्यक है, वह जल जाता है। जो शेष रहता है, वह सरल, कार्यात्मक और संरेखित होता है। यह शुद्धिकरण नाटकीय नहीं होता। यह दैनिक जीवन में घटता है – छोटे निर्णयों में, बोलने के ढंग में, काम करने में, विश्राम में और संबंधों में। यह तात्कालिकता को हटा देता है, इच्छा को स्पष्टता में बदल देता है और महत्वाकांक्षा को सेवा में रूपांतरित कर देता है। कुछ भी थोपा नहीं जाता। कुछ भी छोड़ा नहीं जाता। अशुद्धियाँ स्वयं गिर जाती हैं, क्योंकि वे मौन में टिक नहीं सकतीं।

जब जीवन ने बाहर की ज़िम्मेदारियाँ बढ़ाईं, उन्होंने स्वाभाविक रूप से अनुकूलन किया। चिकित्सा कार्य थोड़ा कम हुआ, जिससे गहन मनन के लिए स्थान बना। उसी स्थान में शरीर-आधारित दृष्टि – शरीरविज्ञान दर्शन – और अधिक परिपक्व हुई। यह दर्शन पहले से ही तंत्र की ओर धकेलता था, क्योंकि दोनों शरीर, श्वास और तंत्रिका तंत्र में जड़ित हैं। पर अब तंत्र पूरी तरह चखा जा चुका था। अग्नि अपना कार्य कर चुकी थी। शरीर रूपांतरित हो चुका था। आयु भी बढ़ चुकी थी, और तंत्र की तीव्र साधनाएँ अब आवश्यक या उपयुक्त नहीं रहीं। पात्र पक चुका था। अब उसे पीटने की नहीं, चमकाने की आवश्यकता थी।

इसी समझ से एक नया अद्वैत दृष्टिकोण प्रकट हुआ – क्वांटम दर्शन। यह महत्वाकांक्षा से नहीं, आवश्यकता से जन्मा। मन अब इतना शांत और विस्तृत था कि उसे मौन के अनुरूप भाषा चाहिए थी। क्वांटम दर्शन तंत्र की तरह ऊर्जा को ऊपर नहीं धकेलता; वह उसे बैठने देता है, फैलने देता है, जीवन में कोमलता से व्याप्त होने देता है। इसने उन्हें निर्जीव प्रकृति की तरह शांत बना दिया – पर्वत की तरह, नदी की तरह जो अपने तल में विश्राम करती है। यह शांति जड़ता नहीं थी; यह पूर्णता थी। इसने अगले चरण – राम अवस्था – की भूमि तैयार की, जहाँ धर्म, कर्तव्य और दैवी व्यवस्था केंद्र में आएंगे।

पीछे मुड़कर देखने पर स्पष्ट हुआ कि यह शिव अवस्था ही पुस्तकों में प्रधान क्यों है। यही अग्नि और रूप के बीच का सेतु थी, आंतरिक जागरण और बाहरी जीवन के बीच। पहले के चरण आवश्यक थे, पर वे संक्रमण थे। शिव आधार था। उसके बिना कुछ भी खड़ा नहीं हो सकता था। यहीं अस्तित्व इतना संरेखित हुआ कि संसार को फिर से उठाया जा सके, उसमें खोए बिना। मौन इतना गहरा हुआ कि शोर सह सके। स्थिरता इतनी गहन हुई कि गति को समेट सके।

इस अवस्था ने गलतफहमी का अंतिम पाठ भी सिखाया। संसार उन लोगों को हमेशा गलत समझता है जो भीतर की ओर बढ़ते हैं, क्योंकि समाज मूल्य को दृश्य क्रिया से मापता है। पर शिव अदृश्य रूप से कार्य करता है। उसके फल संरचनात्मक होते हैं, प्रदर्शनात्मक नहीं। मनुष्य साधारण दिख सकता है और फिर भी पूर्ण हो सकता है। वह काम कर सकता है, बोल सकता है, क्रिया कर सकता है, फिर भी अप्रभावित रह सकता है। इसी कारण शिव अवस्था देखने वाले के लिए सूनी, और अनुभव करने वाले के लिए पूर्ण होती है। वह खाली दिखती है, पर पूर्ण होती है। वह मौन होती है, पर भरी होती है।

इसलिए लेखन ही एकमात्र स्वाभाविक अर्पण बन गया। उपदेश नहीं, निर्देश नहीं, मार्गदर्शन नहीं – केवल अभिलेख। एक जीवित संग्रह, जो बताता है कि सनातन धर्म इतिहास नहीं, विश्वास नहीं, अनुष्ठान नहीं, बल्कि जिया हुआ ऊर्जा-पथ है। यह पुस्तक कोई सिद्धांत नहीं है; यह उस अस्तित्व का अवशेष है जो अग्नि से गुज़रा और जला नहीं, स्थिर हो गया। इसमें शिव अवस्था की छाप है – शांत, स्थिर, अचल, सुनिश्चित।

अध्याय समाप्त करने से पहले शिव को थोड़ा स्मरण कर लें। शिव को पर्वतों में निवास करता बताया गया है, जो वास्तव में शिव अवस्था की चेतना की ऊँचाई का प्रतीक है। इस ऊँचाई से मैदान में रहने वाला भी सबसे ऊँचे पर्वत को गहरी अँधेरी खाई जैसा देखता है। भौगोलिक ऊँचाई चेतना को ऊँचा रख सकती है, पर जागरण की ऊँचाई तक पहुँचाने के लिए मैदानों की सुविधा और एकांत में स्थानांतरण आवश्यक होता है। लोग शिव पर अपनी कल्पनाएँ थोपते हैं, पर शिव इन सबसे परे है। वह वैसा है जैसा कोई अपेक्षा नहीं करता – पूर्णतः बालसुलभ, निर्दोष, अहंरहित, फिर भी पूर्ण जागरूक।

यह अध्याय **शिव का जागरण और भीतर का तंत्र मार्ग** नामक भाग को समाप्त करता है, पर यात्रा समाप्त नहीं होती। वह केवल अपनी लय बदलती है। जो अग्नि पहले दहाड़ती थी, अब चमकती है। जो धुरी पहले एकांत माँगती थी, अब सहभागिता को सहारा देती है। जो भीतर गुरु छवि के रूप में प्रकट हुआ था, अब संरचना के रूप में जीवित है। और इसी संरचना से अगला चरण सहज रूप से प्रारंभ होता है – वह चरण जहाँ स्थिरता कर्म सीखती है, मौन वाणी सीखता है, और जागरण सेवा सीखता है।

यही शिव की पूर्णता है – घटना के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की अवस्था के रूप में।

पुस्तक भाग-4: सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव: राम का जागरण और भीतर के विश्राम का मार्ग

विषय सूचि

अध्याय 1: राम अवस्था का आगमन
यह अध्याय उथल-पुथल के बाद आने वाले उस शांत लेकिन निर्णायक परिवर्तन को प्रस्तुत करता है। राम अवस्था किसी दर्शन या आनंद-उफान के साथ नहीं आती; वह स्थिरता के रूप में आती है। केवला कुंभक और निर्विकल्प-सी समाधि की हल्की झलकियों के बाद भीतर कुछ स्थिर हो जाता है। तंत्रिका तंत्र ऊँचाइयों के पीछे भागना छोड़ देता है और संतुलन में विश्राम करने लगता है। यहाँ जागरण कोई घटना नहीं रह जाता, बल्कि जीवन जीने की शैली बन जाता है।

अध्याय 2: उथल-पुथल से आराम तक – विश्राम का वास्तविक अर्थ
यह अध्याय राम के गहरे अर्थ को खोलता है – *आराम*, *व्यवस्था* और *सामंजस्य*। पहले के चरण जहाँ तीव्रता, प्रयास और टूट-फूट से भरे थे, वहाँ यह चरण सहजता से पहचाना जाता है। शरीर, श्वास और मन अपने आप एक लय में आ जाते हैं। जीवन बिना किसी ज़ोर के स्वयं को पुनर्गठित कर लेता है। पाठक यहाँ समझता है कि विश्राम जड़ता नहीं, बल्कि गतिशील संतुलन की सर्वोच्च अवस्था है।

अध्याय 3: नायकत्व के बिना जीवन – आध्यात्मिक नाटक का अंत
राम अवस्था के साथ संघर्ष का नायकत्व समाप्त हो जाता है। अब न मन से लड़ाई होती है, न पार जाने की बेचैनी रहती है। यह अध्याय समझाता है कि कैसे आध्यात्मिक नाटक धीरे-धीरे मिट जाता है और साधारण जीवन ही पवित्र बन जाता है। कर्तव्य, लय और सरलता आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा का स्थान ले लेते हैं। यही जागरण के बाद का धर्ममय जीवन है – स्थिर, शांत और भरोसेमंद।

अध्याय 4: एकीकरण अभी चल रहा है – लिखने से पहले जीना
यह अध्याय बताता है कि राम अवस्था को अभी पूरी तरह लिखा क्यों नहीं जा सकता। इसे लिखने से पहले जीना आवश्यक है। पहले के अनुभव जहाँ तुरंत शब्दों में उतर आए, यह अवस्था वर्षों के शरीरगत जीवन में धीरे-धीरे खुलती है। यहाँ ज्ञान दैनिक व्यवस्था, संबंध, कार्य और जिम्मेदारियों के माध्यम से परिपक्व होता है। पाठक को यह समझ दी जाती है कि अंतिम समझ समय के साथ ही पकती है।

अध्याय 5: दैवी व्यवस्था और व्यक्तिगत प्रयास – विश्राम की अवधि

अंतिम अध्याय समर्पण और प्रयास दोनों पर चिंतन करता है। यह अवस्था कितने समय तक स्थिर रहेगी, यह केवल साधक तय नहीं करता; इसे दैवी व्यवस्था भी आकार देती है। फिर भी प्रयास आवश्यक है – ऊपर उठने का नहीं, बल्कि संतुलन में बने रहने का। यह अध्याय इस भाग का समापन एक शांत भरोसे के साथ करता है, जहाँ ब्रह्मांडीय लय और व्यक्तिगत अनुशासन साथ-साथ चलते हैं।

अध्याय 1: राम अवस्था का आगमन

शिव अवस्था के गुजर जाने के बाद अगला मोड़ किसी नाटकीय संकेत के साथ नहीं आया। न कोई दर्शन हुआ, न कोई गर्जना, न ही विजय का अनुभव। जो आया वह इतना साधारण था कि आसानी से अनदेखा किया जा सकता था। यह एक सामान्य कार्यदिवस की शाम को हुआ, कार्यालय समय के बाद, जब शरीर साधारण मानवीय थकान से चूर था और मन संसार को संभालते-संभालते थक चुका था। प्रेमयोगी बस स्टॉप पर खड़ा था – चारों ओर शोर, धूल और घर लौटते लोगों की नीरस बेचैनी थी। वह न ध्यान कर रहा था, न साधना, न ही किसी अनुभव की प्रतीक्षा। भीतर केवल एक शांत समर्पण था – किसी रूप या ईश्वर की कल्पना के प्रति नहीं, बल्कि उस अनाम शक्ति के प्रति जो बिना किसी से अनुमति लिए जीवन की पूरी व्यवस्था चलाती है। यह समर्पण शब्दों से नहीं था, केवल थकान से पैदा हुआ था – वह थकान जो तब आती है जब प्रयास टूट जाता है और प्रतिरोध असंभव हो जाता है।

बस आई और वह उसमें चढ़ा, तभी कुछ सूक्ष्म घटा। श्वास रुक गई – न ज़ोर से, न नियंत्रण से, न किसी योगिक इरादे से। वह बस रुक गई, जैसे शरीर ने स्वयं तय कर लिया हो कि अब थोड़ी देर साँस लेने की आवश्यकता नहीं है। न घुटन थी, न डर, न छाती में कसाव। इसके विपरीत, पूरे तंत्र में गहरा विश्राम फैल गया, जैसे थके हुए जोड़ो में गरम तेल डाल दिया गया हो। मन स्वाभाविक रूप से खाली हो गया – न नींद जैसा, न ध्यान जैसा – बल्कि तूफान के बाद के साफ़ आकाश जैसा। आनंद था, पर पहले के चरणों जैसा उफनता हुआ नहीं। यह शांत, विश्रामकारी आनंद था, जो ध्यान खींचता नहीं, बस रहता है। बस चलती रही, लोग चढ़ते-उतरते रहे, ट्रैफिक रुकता और सरकता रहा, पर भीतर कोई गति नहीं थी। श्वास स्थगित रही – पकड़ी हुई नहीं, बस रुकी हुई। शरीर एक संतुलित पात्र की तरह बैठा रहा, यात्रा से अछूता, समय से अछूता।

यह स्थिति लगभग दो घंटे तक रही – पूरी यात्रा। कभी-कभी शरीर ने आसन बदलने के लिए हल्की-सी हलचल की, और उससे भी अवस्था टूटी नहीं। खोने का डर नहीं था, क्योंकि डरने वाला कोई बचा ही नहीं था। जब बस ने उसे सड़क किनारे उतारा, तो उसे जानबूझकर उस अवस्था से बाहर आना पड़ा, लगभग अनिच्छा से, जैसे गहरी नींद से बच्चे को जगाया जाता है। श्वास धीरे-धीरे लौटी, बिना हड़बड़ी के, जैसे वह दरवाज़े पर शालीनता से प्रतीक्षा कर रही हो। वह एक साधारण मनुष्य की तरह घर चला, पर कुछ बदल चुका था। कुछ उठा नहीं था, कुछ फूला नहीं था, कुछ फटा नहीं था। कुछ बैठ गया था।

यही राम अवस्था का पहला शांत आगमन था, हालाँकि तब उसने इसे नाम नहीं दिया। यह फिर-फिर लौटने लगी – बिना समय-सारणी, बिना वादा किए। कभी बैठते समय, कभी लेटते समय, कभी केवल इतनी थकान में कि प्रयास करना असंभव हो जाए। धीरे-धीरे उसने सुबह

एक घंटा और शाम एक घंटा बैठने की सरल आदत बना ली – अवस्था को बुलाने के लिए नहीं, बल्कि उसे जगह देने के लिए। कुछ दिन वह पूरी तरह आती, उसी श्वास-रहित विश्राम के साथ, और कुछ दिन बिल्कुल नहीं आती। उन दिनों केवल साक्षी भाव रहता – धीमा मन, विचार इतने कमज़ोर कि अराजकता न कर सकें, जैसे थके कुत्ते छाया में पड़े हों। वही पर्याप्त था। तंत्रिका तंत्र अब शिखरों के पीछे नहीं भाग रहा था। वह संतुलन में रहना सीख रहा था।

मानसिक शुद्धि के मूल सिद्धांत को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि हर मानसिक गठन को साफ़ करना ज़रूरी नहीं। यदि ऐसा किया जाए तो सफ़ाई कभी समाप्त नहीं होगी, क्योंकि संसार से जितना साफ़ करेंगे, उससे अधिक जमा हो जाएगा। जैसे मोटी धूल बुहारते समय झाड़ू का एक बड़ा वार सूक्ष्म धूल को भी हटा देता है, वैसे ही ध्यान में जब एक बड़ा विचार चेतना में उठता है और साफ़ होता है, तो छोटे और छिपे हुए विचार भी अपने आप साफ़ हो जाते हैं, और आनंदमय समाधि घटती है। पर आनंद भी केवल बाहरी आवरण है। शुद्ध निर्विकल्प तो आनंदहीन होता है – गहरी मृत्यु-जैसी स्थिरता, न सुखद, न दुःखद। जब ध्यान को संसार की असुखद परिस्थितियों के बीच रखा जाता है, तब यह शुद्ध निर्विकल्प अनुभव होता है। भागवत और अन्य ग्रंथों में सात्त्विक वातावरण इसलिए रचा जाता है ताकि साधक उस शुद्ध परंतु नीरस निर्विकल्प से डर न जाए, बल्कि उसे आनंद से जुड़ा हुआ पाकर उसकी ओर आकर्षित हो।

यह योग का वीरतापूर्ण चरण नहीं था। न ऊर्जा का उठना, न भीतर की आग, न नाटकीय क्रियाएँ। पहले की उथल-पुथल स्वयं जल चुकी थी। शरीर सीख चुका था, मन का अहंकार टूट चुका था, और श्वास अपनी बुद्धि पा चुकी थी। जो आया वह व्यवस्था थी। जो आया वह विश्राम था। राम – किसी पौराणिक रूप में नहीं, बल्कि एक जीवित सिद्धांत के रूप में – चुपचाप आया और बैठ गया। राम का अर्थ है *आराम* – गहरा विश्राम, आंतरिक व्यवस्था, वह संतुलन जो तब आता है जब सब अनावश्यक गिर चुका हो। यह विश्राम न आलस्य था, न पलायन। यह पूर्णता के विश्राम का प्रारंभिक रूप था, भले ही पूर्णता अभी दूर थी।

इस समय प्रेमयोगी ने एक महत्वपूर्ण बात समझी – वास्तविक विश्राम केवल पूर्णता के बाद आता है। उससे पहले लिया गया कोई भी विश्राम एक प्रकार का आध्यात्मिक छल है, बहुत जल्दी लिया गया आराम। उसने साफ़ देखा कि जो शुरू हुआ है वह अंतिम राम अवस्था नहीं, बल्कि उसका द्वार है। फिर भी दिशा स्पष्ट थी। जीवन को जीतने की ज़रूरत नहीं रही। उसे जीना था। जागरण घटना होना बंद हो गया था और जीने का ढंग बन रहा था। भीतर का युद्ध समाप्त हो चुका था, पर एकीकरण का कार्य अभी शुरू हुआ था।

इस चरण की सबसे अद्भुत बात उसकी साधारणता थी। वह कार्यालय गया, सहकर्मियों से बात की, फ़ाइलें और समय-सीमाएँ संभाली, घर लौटा, खाया, सोया और फिर उठा। बाहर कुछ नहीं बदला, पर भीतर सब कुछ बदल चुका था। शरीर में कम तनाव था। मन अब उसी गति से प्रतिक्रिया नहीं करता था। विचार उठते भी तो बिना जल्दी के उठते और बिना निशान छोड़े गिर जाते। ऐसा लगता था जैसे जीवन अब एक गहरे अक्ष से जिया जा रहा हो, जो परिस्थितियों से हिलता नहीं। यह समाधि अनुभव नहीं थी, बल्कि समाधि पृष्ठभूमि बन चुकी थी – शांत और भरोसेमंद।

श्वास-रहित अवस्थाएँ कभी-कभी आती रहीं, कभी मिनटों के लिए, कभी घंटों के लिए, पर अब वे केंद्र नहीं थीं। केंद्र घुल चुका था। जो महत्वपूर्ण था वह दैनिक जीवन में बढ़ती स्थिरता थी – स्थितियों को संभालने की सहजता, भीतर की टिप्पणी का अभाव। पहले आध्यात्मिक जीवन ऊर्ध्व था – कभी ऊपर, कभी नीचे, प्रयास और थकान के बीच झूलता हुआ। अब वह क्षैतिज हो गया था – पूरे दिन में समान रूप से फैला हुआ, बिना प्रयास के सब कुछ छूता हुआ। यही राम जागरण था – चढ़ाई नहीं, बैठना; शिखर नहीं, समतल; विजय नहीं, सरलता की ओर वापसी।

उसने देखा कि तंत्रिका तंत्र स्वयं को पुनर्गठित कर रहा है। उत्तेजना की पुरानी आदत, यहाँ तक कि आध्यात्मिक उत्तेजना भी, घुल रही थी। मौन विशेष नहीं रहा; वह सामान्य बन गया। मन शत्रु नहीं रहा; वह एक औज़ार बन गया जो आवश्यकता न होने पर विश्राम करता है। शरीर साधना नहीं माँगता था; वह केवल लय चाहता था। खाना, काम, चलना, बैठना, सोना – सब अपने स्थान पर अपने आप बैठने लगे। जैसे जीवन स्वयं साधना बन गया हो।

यह अवस्था पूरी तरह लिखी नहीं जा सकती थी, और वह यह जानता था। यह अभी भी खुल रही थी, समय के साथ, कार्य के साथ, संबंधों के साथ, जिम्मेदारियों के साथ। पहले के अनुभव लिखे जा सके क्योंकि वे अचानक, तीव्र और पूर्ण थे। यह धीमी थी, व्यापक थी, अधूरी थी। इसे वर्षों चाहिए थे, शब्द नहीं। इसे जीना था, समझाना नहीं। राम अवस्था अंतिम एकीकरण का प्रारंभिक संकेत थी, और उसकी गहराई केवल पूरी तरह जीने पर ही प्रकट हो सकती थी।

इस चरण में एक नई विनम्रता भी आई। प्रेमयोगी ने समझा कि यह संतुलन कितने समय टिकेगा, यह पूरी तरह उसके हाथ में नहीं है। दैवी व्यवस्था की अपनी लय है, अपनी आवश्यकता है, अपनी जाँच की विधि है। फिर भी प्रयास आवश्यक था, पर प्रयास का अर्थ बदल चुका था। अब प्रयास ऊपर उठने का नहीं, संतुलन में रहने का था – उस शांत व्यवस्था को न बिगाड़ने का जो स्थापित हो रही थी। कार्य था पाने का नहीं, संभालने का; धक्का देने का नहीं, अनुमति देने का; पहुँचने का नहीं, ठहरे रहने का।

इस प्रकार राम अवस्था की शुरुआत हुई – चुपचाप, एक बस में, कार्यालय के बाद, थकान और समर्पण में, बिना साक्षी और बिना घोषणा के। उसने पहचान नहीं माँगी। उसने स्थायित्व का वादा नहीं किया। उसने केवल विश्राम दिया, और उस विश्राम के माध्यम से जीने का एक नया ढंग। यही भीतर के विश्राम का मार्ग था – उथल-पुथल के बाद जीवन की शुरुआत, लंबे तूफान के बाद पहली स्थिर भूमि। और भले ही यह अभी भी खुल रही थी, एक बात स्पष्ट थी: जागरण अंततः घर लौट आया था।

अध्याय 2: उथल-पुथल से आराम तक – विश्राम का अर्थ

जब पहले के चरणों की उथल-पुथल धीरे-धीरे स्वयं जलकर शांत हो गई, तो जो बचा वह खालीपन नहीं, बल्कि व्यवस्था थी। प्रेमयोगी ने कभी, अनेक साधकों की तरह, यह मान लिया था कि विश्राम केवल प्रयास की अनुपस्थिति है। बाद में उसने जाना कि विश्राम मानव तंत्र की सबसे सूक्ष्म और बुद्धिमान अवस्था है, और यह न तो संयोग से आती है, न बलपूर्वक। राम अवस्था ने यह सत्य धीरे-धीरे प्रकट किया, उपदेश से नहीं, बल्कि जीए हुए अनुभव से। राम कोई व्यक्ति नहीं था, कोई प्रतीक नहीं था, कोई आदर्श भी नहीं था। राम था *आराम* – वह गहरा विश्राम जो तब आता है जब तंत्र स्वच्छ, समंजित और स्वयं से संघर्ष करना छोड़ देता है।

इस चरण के प्रारंभिक दिनों में उसने एक अजीब बात देखी। यद्यपि मौन उपलब्ध था, वह हमेशा आनंददायक नहीं लगता था। कभी-कभी विश्राम नीरस, भारी, लगभग जड़ता जैसा महसूस होता था। पहले यह उसे भ्रमित करता था, क्योंकि विश्राम का अर्थ तो शांति होना चाहिए था। समय के साथ कारण स्पष्ट हुआ: तैयारी के बिना विश्राम, विश्राम नहीं होता – वह केवल स्थगन होता है। जब विचार, इच्छाएँ और अनसुलझे संस्कार भीतर दबे रहते हैं, तो विश्राम उन्हें और गहराई में धकेल देता है, जैसे धूल को कालीन के नीचे छिपा दिया जाए। कमरा साफ़ दिख सकता है, पर हवा भारी बनी रहती है। वास्तविक विश्राम तभी आता है जब धूल हटाई जाए, न कि छिपाई जाए।

इस समझ ने उसकी साधना से संबंध को पूरी तरह बदल दिया। पहले साधनाएँ उठने, तोड़ने और ऊँची अवस्थाओं को छूने के लिए की जाती थीं। अब वे सफ़ाई, संरेखण और तंत्र को विश्राम के लिए तैयार करने के साधन बन गईं। रीढ़ की श्वास, हल्का प्राणायाम, कोमल आसन, सरल बैठना – सब बिना महत्वाकांक्षा और बिना तनाव के किया जाने लगा। वह अभ्यास किसी उपलब्धि के लिए नहीं, बल्कि शरीर और मन को इतना पारदर्शी बनाने के लिए करता था कि विश्राम अपने आप उतर सके। प्रयास हल्का था, लगभग खेल जैसा – जैसे बैठने से पहले कमरे को बुहारना। यदि सफ़ाई ठीक से हो गई, तो विश्राम स्वयं आ गया। यदि नहीं, तो विश्राम नीरसता बन गया।

प्रेमयोगी ने स्पष्ट देखा कि जीवन में कुछ भी स्वचालित नहीं है, यहाँ तक कि विश्राम भी नहीं। यह विचार कि "सब अपने आप हो जाएगा" अक्सर मानव जिम्मेदारी से छिपा हुआ पलायन होता है। यदि सब कुछ स्वचालित होता, तो साधना का कोई अर्थ न होता, चयन की कोई भूमिका न होती, प्रयास की कोई गरिमा न होती। उसने समझा कि अस्तित्व मनुष्य को पूरी स्वतंत्रता देता है – न धकेलता है, न मजबूर करता है, न शांति में घसीटता है। विश्राम

दिया जाता है, पर तैयारी चुनी जाती है। जब तैयारी छोड़ दी जाती है, तो विश्राम या तो आता नहीं, या विकृत रूप में आता है, जो भारी और जड़ लगता है।

यह अंतर तब विशेष रूप से स्पष्ट हुआ जब उसने देखा कि लोग ज़बरदस्ती विश्राम पाने की कोशिश करते हैं – नशे से, दवाओं से, नींद से, ध्यान भटकाने से। ये भी एक प्रकार का विश्राम देते हैं, पर वह उधार लिया हुआ और अस्थायी होता है, जैसे शोर पैदा करने वाली मशीन को ठीक किए बिना केवल 'पॉज़' बटन दबा देना। दबाव हटते ही शोर फिर लौट आता है, अक्सर और तेज़। वह विश्राम *आराम* नहीं है; वह पलायन है। वास्तविक विश्राम विराम नहीं है; वह समाधान है। वह गति को दबाता नहीं; वह उसे पुनर्गठित करता है।

जैसे-जैसे राम अवस्था गहरी होती गई, प्रेमयोगी ने देखा कि शरीर, श्वास और मन हल्की लेकिन निरंतर तैयारी से स्वयं संरेखित होने लगे। श्वास बिना नियंत्रण के सहज हो गई। शरीर बिना प्रयास के सीधा रहने लगा। मन बिना आदेश के धीमा हो गया। भीतर मौन के लिए संघर्ष नहीं रहा, क्योंकि मौन लक्ष्य नहीं रहा; वह व्यवस्था का उपफल बन गया। विश्राम प्राप्त नहीं किया गया; वह उतरा। यही इस चरण का सबसे बड़ा रहस्योद्घाटन था: विश्राम वह नहीं जो आप करते हैं, बल्कि वह है जो तब होता है जब बाकी सब सही ढंग से हो चुका हो।

जीवन भी बिना ज़ोर लगाए स्वयं को पुनर्गठित करने लगा। पुरानी आदतें चुपचाप गिरने लगीं। नई लय बिना योजना के स्थापित हो गई। नींद गहरी हो गई। काम साफ़ हुआ। वाणी न्यूनतम और सटीक हो गई। यहाँ तक कि संबंध भी समायोजित होने लगे, जैसे संसार स्वयं नए आंतरिक क्रम का उत्तर दे रहा हो। प्रेमयोगी ने कुछ बदलने की कोशिश नहीं की; उसने केवल उस परिवर्तन को बाधित करना बंद कर दिया जो पहले से हो रहा था। यह गतिशील संतुलन था, जड़ता नहीं। जैसे नदी अपना पाट पा लेने के बाद बिना उफाने बहती है।

पहले के चरणों में तीव्रता आवश्यक थी। अशुद्धियों को जलाने, कठोर संरचनाओं को तोड़ने, तंत्र को नींद से जगाने के लिए अग्नि आवश्यक थी। लेकिन अग्नि स्थायी घर नहीं हो सकती। यदि वह बनी रहे, तो सब कुछ जला देती है। राम अवस्था अग्नि के बाद जल की तरह आई – ठंडक, स्थिरता और पुनर्स्थापन लेकर। पर जल भी स्वच्छ होना चाहिए। यदि नदी कीचड़ से भरी हो, तो वह आकाश को प्रतिबिंबित नहीं कर सकती। इसी कारण पूर्णता की झलक के बाद भी तैयारी आवश्यक बनी रही। हर बार जब विश्राम लौटा, उसे फिर से तैयार करना पड़ा। कुछ भी सुनिश्चित नहीं था, कुछ भी स्थायी नहीं था, कुछ भी स्वाभाविक रूप से मान लेने योग्य नहीं था।

इस बार-बार की तैयारी ने प्रेमयोगी को विनम्रता सिखाई। उसने देखा कि उच्चतम अवस्थाएँ भी उसकी संपत्ति नहीं हैं। वे तंत्र की तैयारी पर अस्तित्व की प्रतिक्रिया हैं। जब तैयारी होती

थी, विश्राम आता था। जब नहीं होती थी, विश्राम दूर रहता था। न कोई पुरस्कार था, न दंड – केवल संरेखण और विसंरेखण। इससे जीवन सरल हो गया। दिनों को अच्छा-बुरा कहने की आवश्यकता नहीं रही। हर दिन बस तंत्र में उपस्थित व्यवस्था का स्तर दिखाता था।

विश्राम का अर्थ भी बदल गया। वह अब न नींद था, न निष्क्रियता, न पलायन। वह सबसे जीवंत अवस्था बन गया जिसे उसने जाना। गहरे विश्राम में अनुभूति तीक्ष्ण हो जाती थी। सुनना साफ़ होता, देखना उजला होता, सोचना कुशल होता बिना शोर बने। कर्म स्वयं उठता और साफ़ समाप्त हो जाता। कोई अवशेष नहीं बचता। यह गतिशील संतुलन की सर्वोच्च अवस्था थी – गति स्थिरता से उठती और बिना घर्षण के उसी में लौट जाती। उसने देखा कि जड़ता तभी आती है जब स्थिरता को ज़बरदस्ती थोपा जाए, जब गति को सुलझाने के बजाय दबाया जाए।

मन, जो कभी युद्धभूमि था, अब प्रशिक्षित घोड़े की तरह व्यवहार करता था। आवश्यकता होने पर चलता, और न होने पर स्थिर रहता। शरीर, जो कभी बेचैन था, अब गरिमा के साथ स्वयं को धारण करता था। श्वास, जिसे कभी साधा गया था, अब सब कुछ चुपचाप संचालित करती थी। यह त्रयी ही *आराम* का जीवित अर्थ थी। यह रहस्यमय नहीं थी; यह शारीरिक, मानसिक और अस्तित्वगत – तीनों स्तरों पर एक साथ घट रही थी। विश्राम कोई विचार नहीं था; वह एक जीवित बुद्धि थी जो पूरे अस्तित्व को समन्वित रखती थी।

प्रेमयोगी ने समझा कि इसी कारण राम को आनंद से नहीं, व्यवस्था से जोड़ा जाता है। आनंद तेज़ी से जलता है और राख छोड़ जाता है। व्यवस्था जीवन को संभालती है। संसार आनंद पर नहीं चल सकता, पर व्यवस्था में विश्राम कर सकता है। परिवार, समाज, कार्य, संबंध – यहाँ तक कि आध्यात्मिकता भी – इस शांत संतुलन की माँग करते हैं। राम अवस्था उसे सिखा रही थी कि जागरण कैसे जीने योग्य बनता है, सत्य कैसे टिकाऊ बनता है, और अनुभूति जीवन के लिए उपयोगी बनती है, जीवन से अलग नहीं।

कुछ दिन ऐसे भी आए जब पूरी तैयारी के बावजूद विश्राम नहीं आया। उन दिनों उसने उसे ज़बरदस्ती नहीं बुलाया। वह काम करता रहा, चलता रहा, खाता रहा, बोलता रहा, सोता रहा – एक साधारण मनुष्य की तरह। अब वही साधारणता विश्राम थी, क्योंकि भीतर कोई संघर्ष नहीं था। इससे उसे एक और बात समझ में आई: विश्राम हमेशा कोई अवस्था नहीं होता; कभी-कभी वह केवल संघर्ष की अनुपस्थिति होता है। जब संघर्ष समाप्त होता है, विश्राम पहले से ही वहाँ होता है – हवा की तरह, जिसे तब तक नहीं देखा जाता जब तक वह रुक न जाए।

इस प्रकार विश्राम का अर्थ परत-दर-परत खुलता गया। विश्राम जड़ता नहीं था। विश्राम स्पष्टता था। विश्राम संरेखण था। विश्राम तत्परता था। विश्राम वह शांत बुद्धि थी जो बिना

आदेश दिए जीवन को सामंजस्य में रखती है। और इस खोज में प्रेमयोगी ने राम के वास्तविक अर्थ को जाना – *आराम* – कोई वीर राजा नहीं, कोई दिव्य आकृति नहीं, बल्कि वह जीवित व्यवस्था जो तब उत्पन्न होती है जब उथल-पुथल समाप्त हो जाती है और जीवन अंततः अपने पैरों पर खड़ा होना सीख लेता है।

अध्याय 3: बिना वीरता के जीवन – आध्यात्मिक नाटकीयता का अंत

जब राम अवस्था इतनी परिपक्व हो गई कि वह दैनिक जीवन में महसूस होने लगी, तो एक अप्रत्याशित बात हुई – वीरता का संघर्ष समाप्त हो गया। न कोई घोषणा हुई, न अंतिम विजय का उत्सव, न कोई नाटकीय समापन। संघर्ष बस रुक गया। मन, जो कभी जीतने वाला शत्रु था, अब उससे लड़ने की आवश्यकता ही नहीं रही। ऊपर उठने, पार जाने, बच निकलने की जो जल्दबाज़ी थी, वह चुपचाप घुल गई, जैसे रात में बुखार टूट जाता है। प्रेमयोगी ने देखा कि सबसे बड़ा परिवर्तन अनुभव में नहीं, दृष्टिकोण में था। साधक लुप्त हो गया था। जो बचा था, वह एक मनुष्य था – जो अपना जीवन जी रहा था, अपना कर्तव्य निभा रहा था, साँस ले रहा था, चल रहा था, काम कर रहा था, विश्राम कर रहा था – किसी और बनने का बोझ उठाए बिना।

पहले आध्यात्मिकता तीव्र और नाटकीय थी। अग्नि के चरण थे, टूटन के चरण थे, असाधारण अवस्थाएँ थीं जो तूफ़ान की तरह आती-जाती थीं। हर चरण ध्यान, प्रयास और व्याख्या माँगता था। अब वह पूरी संरचना गिर गई। राम अवस्था को किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी। उसे साक्षी नहीं चाहिए थे। उसे स्मृति की भी आवश्यकता नहीं थी। वह बस चलती रही – चुपचाप, भरोसेमंद ढंग से, दिन और रात की लय की तरह। यह था बिना वीरता का जीवन, और इसी सरलता में प्रेमयोगी ने वह पवित्रता खोजी जो किसी भी नाटकीय अनुभव से कभी नहीं मिली थी – स्थिरता।

साधारण जीवन, जिसे पहले आध्यात्मिकता से ध्यान भटकाने वाला माना जाता था, अब उसी की अभिव्यक्ति बन गया। दफ़्तर जाना, जिम्मेदारियाँ निभाना, लोगों से बात करना, निर्णय लेना, भोजन करना, रात को विश्राम करना – सब ध्यान के समान गरिमा से भरे हो गए। अब पवित्र और सांसारिक के बीच कोई विभाजन नहीं रहा। कर्तव्य स्वयं पूजा बन गया, इसलिए नहीं कि उसे ऐसा घोषित किया गया, बल्कि इसलिए कि भीतर प्रतिरोध समाप्त हो चुका था। कर्म शांति पाने के लिए नहीं किए जाते थे; वे शांति से किए जाते थे। यही था जागरण के बाद का धर्म – शांत, भरोसेमंद, अडिग।

फिर भी एक बात प्रेमयोगी के लिए स्पष्ट रही। ध्यान छोड़ा नहीं जा सकता था। विश्राम, जिसे एक बार पहचाना गया, उसे बनाए रखना आवश्यक था। तंत्र ने संतुलन सीख लिया था, पर संतुलन को जीवित रहने के लिए लय चाहिए। जैसे स्वास्थ्य लौट आने के बाद भी शरीर को नियमित नींद चाहिए, वैसे ही जागरण के बाद भी मन और स्नायु तंत्र को ध्यान चाहिए। यह ध्यान किसी उपलब्धि के लिए नहीं था, न ऊपर उठने के लिए, न दर्शन पाने के लिए। यह ध्यान रख-रखाव के लिए था, संरेखण के लिए था, उस व्यवस्था का सम्मान करने के लिए था जो भीतर स्थापित हो चुकी थी। इसी अर्थ में राम स्वयं उदाहरण बन गए। राजा

होकर भी, संतुलन और व्यवस्था में रहते हुए भी, राम ने अपनी अंतःसाधना नहीं छोड़ी। योग वसिष्ठ में गुरु वसिष्ठ उन्हें अद्वैत का उपदेश देते हैं – दर्शन के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी जीवित समझ के रूप में जिसे बार-बार लौटकर जीना पड़ता है। प्रेमयोगी ने अपने मार्ग को उस प्राचीन संवाद में देखा, अनुकरण के रूप में नहीं, बल्कि प्रतिध्वनि के रूप में।

ध्यान करने का ढंग बदल गया। पहले ध्यान तीव्र, केंद्रित और कभी-कभी ज़ोर वाला होता था। अब वह हल्का, नियमित, लगभग दाँत साफ़ करने जैसा हो गया – चेतना की दैनिक स्वच्छता। प्रेमयोगी अब निर्विकल्प समाधि पाने के लिए नहीं बैठता था। वह बैठता था ताकि विश्राम के लिए उपलब्ध रह सके। वह बैठता था ताकि तंत्र स्वयं को पुनः संतुलित कर सके। कभी गहरी स्थिरता आती, कभी केवल कोमल साक्षीभाव, और कभी कुछ भी विशेष नहीं। फिर भी हर बैठना एक शांत छाप छोड़ जाता, जैसे किसी वाद्य को प्रतिदिन साधा जाता है।

इसी चरण में प्रेमयोगी को एक प्राचीन सत्य के लिए आधुनिक भाषा से गहरा सहारा मिला – वह भाषा जिसे उसने बहुत पहले गढ़ा था, पहले ही चरण से पहले, और जो हमेशा उसका मार्गदर्शन करती रही थी। योग वसिष्ठ में प्रतिपादित अद्वैत को उसने *शरीरविज्ञान दर्शन* और *क्वांटम दर्शन* के माध्यम से देखा। शब्द पुराने थे, पर देखना नया था। उसने प्रत्यक्ष देखा कि शरीर स्वयं बुद्धि का क्षेत्र है, कि श्वास, स्नायु, हार्मोन और विचार चेतना से अलग नहीं, बल्कि उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। अद्वैत अब कोई दार्शनिक विचार नहीं रहा। वह तंत्र के कार्य में दिखाई देने लगा। जब शरीर शिथिल होता, मन स्वतः अनुसरण करता। जब श्वास कोमल होती, विचार धीमे हो जाते। जब चेतना स्वयं में विश्राम करती, पूरा ढाँचा बिना निर्देश के संरेखित हो जाता।

इस दृष्टि में शब्द वही रहते थे, पर प्रतिक्रिया बदल गई थी। पहले कोई शब्द या विचार प्रतिक्रिया, भावना, तर्क या प्रतिरोध पैदा करता था। अब वही शब्द खुले खिड़की से हवा की तरह निकल जाते थे। स्नायु तंत्र ने संकुचन न करना सीख लिया था। यही था आध्यात्मिक नाटक का वास्तविक अंत। नाटक वहीं होता है जहाँ संकुचन होता है, जहाँ पहचान को खतरा लगता है, जहाँ कुछ बचाना या सिद्ध करना होता है। जब वह समाप्त हो गया, जीवन सहज हो गया – समस्याएँ समाप्त होने से नहीं, बल्कि इसलिए कि भीतर की सतह अब उन्हें पकड़ती नहीं थी।

सबसे आश्चर्यजनक परिवर्तन विचारों के साथ संबंध में आया। पहले विचार उन्मत्त थे, ध्यान खींचते थे, चेतना को हर दिशा में खींचते थे। वे बाज़ार की भीड़ की तरह चिल्लाते थे। अब दृश्य उलट गया था। उसने निर्विकल्प आत्मा को सिंहासन पर बैठे राजा की तरह देखा, और विचारों को उसके सेवकों की तरह। वे आते थे, पर शासन नहीं करते थे। वे डंक नहीं मारते थे। वे घायल नहीं करते थे। वे प्रतीक्षा करते थे, आज्ञा मानते थे, और अपना काम पूरा होते

ही विलीन हो जाते थे। यहाँ तक कि अस्त-व्यस्त विचार भी उठते ही गहरी स्थिरता के आगे झुक जाते थे और शक्ति खो देते थे। यह दमन नहीं था। यह स्वाभाविक अधीनता थी। व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी।

इस परिवर्तन ने जीवन में गहरी सहजता ला दी। प्रेमयोगी को अब स्वयं को सँभालने की आवश्यकता नहीं रही। निरंतर सुधारने, ठीक करने या शुद्ध करने की कोई ज़रूरत नहीं थी। तंत्र ने अपनी बुद्धि सीख ली थी। असंतुलन आता, तो स्वयं ठीक हो जाता। थकान आती, तो विश्राम आ जाता। कर्म आवश्यक होता, तो स्वच्छता से उठता। यही राम अवस्था का वास्तविक चमत्कार था – जीवन भीतर के हस्तक्षेप के बिना स्वयं चलने लगा। अहंकार, जो कभी हर कहानी में नायक था, अब हट गया था – न विनाश से, बल्कि अप्रासंगिकता से।

आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा बिना किसी पछतावे के लुप्त हो गई। सिखाने, सिद्ध करने, बदलने या प्रभावित करने की इच्छा नहीं रही। लिखने की इच्छा भी जीने के सामने गौण हो गई। महत्व इस बात का था कि जीवन सरल, लयबद्ध और स्पष्ट बना रहे। प्रेमयोगी ने देखा कि महत्वाकांक्षा स्वयं उथल-पुथल का ही एक रूप है – वर्तमान क्षण के विरुद्ध एक सूक्ष्म हिंसा। जब वह समाप्त हुई, समय धीमा हो गया। दिन लंबे, पूर्ण और समृद्ध हो गए। हर क्षण अपने आप में पर्याप्त अर्थ लिए हुए था।

इसका अर्थ यह नहीं था कि जीवन निष्क्रिय हो गया। इसके विपरीत, कर्म अधिक तीक्ष्ण हो गया। निर्णय जल्दी लिए जाने लगे। शब्द अधिक सटीक हुए। काम अधिक कुशलता से होने लगा। क्योंकि भीतर शोर नहीं था, बाहर का कर्म स्वच्छ हो गया। यही कारण है कि राम अवस्था पलायन नहीं, विश्वसनीयता है। संसार ऐसे व्यक्ति पर भरोसा कर सकता है, क्योंकि वह मनोदशाओं, भय या आध्यात्मिक उतार-चढ़ाव से संचालित नहीं होता। वह उपस्थित है। वह स्थिर है। वह उपलब्ध है।

प्रेमयोगी ने समझा कि इसी कारण आध्यात्मिक नाटकीयता का अंत ही धर्ममय जीवन की शुरुआत है। नाटक परिवर्तन के लिए होता है; धर्म पोषण के लिए। नाटक पुराने को तोड़ता है; धर्म नए को बनाता है। जागरण के बाद संसार को और नायकों की आवश्यकता नहीं होती। उसे ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता होती है जो शांत, स्थिर खड़े रह सकें और बिना हिले कर्म कर सकें। राम अवस्था ऐसे ही मनुष्य उत्पन्न करती है।

ध्यान चलता रहा – संघर्ष की तरह नहीं, बल्कि हृदय की धड़कन की तरह। हर बैठना संरेखण को नवीकृत करता, विश्राम को ताज़ा करता और चेतना के मौन राजत्व की पुष्टि करता। और हर बीतते दिन के साथ प्रेमयोगी ने अधिक स्पष्ट देखा कि यही शांत जीवन, यही साधारण जीवन, यही बिना नाटकीयता का जीवन, साक्षात्कार की सर्वोच्च अभिव्यक्ति

है। जीतने को कुछ नहीं बचा था। भागने को कुछ नहीं बचा था। बनने को कुछ नहीं बचा था।

इस प्रकार वीरता का युग समाप्त हुआ, और सरलता का युग आरंभ हुआ। उस सरलता में जीवन घोषणा से नहीं, उपस्थिति से पवित्र हो गया। और उस उपस्थिति में जागरण को अंततः ऐसा रूप मिला जो संसार में टूटे बिना जीया जा सके।

अध्याय 4: समेकन अभी भी घटित हो रहा है — लिखने से पहले जीना

राम अवस्था ने प्रेमयोगी को अपनी यात्रा के पहले किसी भी चरण में न मिली एक नई बात दिखायी: ऐसी मौनता, जो वर्णन से इनकार कर देती है। पहले के साक्षात्कार बिजली की तरह आते थे। वे तुरंत बोले जाने, लिखे जाने, बाँटे जाने और समझे जाने की माँग करते थे। वे इतनी तीव्रता से जलते थे कि शब्द ही उस दबाव को बाहर निकालने का माध्यम बनते थे। यह चरण अलग था। यह जलता नहीं था। यह बैठता था। यह भाषा में धकेलता नहीं था। यह उससे पीछे हट जाता था। प्रेमयोगी ने धीरे-धीरे, और कभी-कभी असहज होकर, यह जाना कि जागरण के सबसे गहरे चरण लिखे जाना नहीं चाहते। वे जिए जाना चाहते हैं।

यह पूरी यात्रा में पहली बार हुआ कि अनुभव समझ से धीमा हो गया। पहले अनुभव विस्फोट की तरह आता था और समझ उसके पीछे दौड़ती थी। अब समझ स्थिर खड़ी थी, प्रतीक्षा में, और जीवन स्वयं अर्थ को खोल रहा था। राम अवस्था कोई ऐसी स्थिति नहीं थी जिसे एक बैठक या एक अनुच्छेद में पकड़ा जा सके। यह कोई ऐसी अनुभूति नहीं थी जिसे दिन के अंत में सुनाया जा सके। यह जीवन में धीरे-धीरे बैठने की प्रक्रिया थी — एक पुनर्संयोजन, जो बिना शोर किए सब कुछ छूता था। बहुत जल्दी लिख देना इसे दर्शन बना देता। बहुत जल्दी बोल देना इसे राय बना देता। यह चरण धैर्य माँगता था।

प्रेमयोगी ने देखा कि जब भी वह इसे शब्दों में डालने की कोशिश करता, शब्द खोखले लगते। वे सही होते, पर जीवित नहीं। कुछ अनिवार्य अनुपस्थित रहता। तब उसने समझा कि समेकन कोई घटना नहीं, बल्कि एक लय है — और लय को भाषा में जकड़ देने से उसका प्रवाह मर जाता है। राम अवस्था उसे कुछ नया नहीं सिखा रही थी; वह उसे सिखा रही थी कि जो पहले जाना गया था, उसे कैसे जिया जाए। ऐसी बुद्धि केवल दोहराव से पकती है, दिनचर्या से, जिम्मेदारी से, साधारण दिनों के धीमे घर्षण से। कोई भी शास्त्र इसका स्थान नहीं ले सकता। कोई भी अंतर्दृष्टि इसे छोटा रास्ता नहीं दे सकती।

दिन बीते, सप्ताह बीते, महीने बीते, और कुछ विशेष नहीं हुआ। और यही सबसे विशेष बात थी। वह उठा, काम पर गया, लोगों से निपटा, निर्णय लिए, घर लौटा, भोजन किया, विश्राम किया, सोया, और फिर उठा। पहले ऐसा जीवन ठहराव जैसा लगता, जैसे संसार में वापस गिर जाना। अब यह समेकन जैसा लगता था। वही चेतना, जो पहले केवल ध्यान में दिखाई देती थी, अब चलते समय, बोलते समय, सुनते समय, प्रतीक्षा करते समय भी दिखाई देती थी। वह स्वयं को घोषित नहीं करती थी। उसे सुरक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वह बस रहती थी।

राम अवस्था उसे सबसे कठिन पाठ सिखा रही थी: अंतिम समझ केवल मौन में नहीं, समय में जन्म लेती है। समय, जिससे साधक अक्सर भागना चाहते हैं, अंतिम गुरु बन गया। हर

दिन विश्राम की स्थिरता को परखता था। हर संपर्क संतुलन की गहराई को परखता था। हर जिम्मेदारी यह जाँचती थी कि जागरण घर्षण में टिक सकता है या नहीं। और धीरे-धीरे, बिना नाटक के, वह टिक गया। दबाव में भी जागरूकता नहीं टूटी। गतिविधि में भी स्थिरता नहीं खोई। अव्यवस्था में भी विश्राम नहीं टूटा। यह समेकन वास्तविक समय में हो रहा था – ध्यान कक्षों में नहीं, जीवन के बीच में।

अब प्रेमयोगी समझ गया कि यह चरण पूरी तरह लिखा क्यों नहीं जा सकता। लेखन समापन देता है, और इस चरण में कोई समापन नहीं था। यह स्वभाव से खुला हुआ था। यह निष्कर्ष नहीं, निरंतरता था। यह किसी साक्षात्कार पर समाप्त नहीं होता था; यह जीवन-शैली पर समाप्त होता था। ऐसा अंत वर्षों बाद ही दिखता है, दिनों में नहीं। मन इसे परिभाषित करना चाहता था, ढाँचा देना चाहता था, नाम देना चाहता था। पर जीवन ने सहयोग नहीं किया। हर बार जब उसे लगा कि यह पूरा हो गया, एक नई परत खुल गई। एक नई परीक्षा आ गई। एक नया सूक्ष्म सुधार हो गया। समेकन अभी भी घटित हो रहा था, और जीवन के रहते वह होता ही रहेगा।

पहले के चरण निजी थे, लगभग गुप्त। यह चरण सार्वजनिक था। इसे रिश्तों में, कार्यालय के काम में, परिवार के मामलों में, संघर्ष और थकान के क्षणों में परखा जा रहा था। संसार दर्पण बन गया था, और दर्पण ईमानदार था। यदि विश्राम वास्तविक था, तो असहमति में भी बना रहा। यदि संतुलन वास्तविक था, तो काम के भार में भी बना रहा। यदि मौन वास्तविक था, तो शब्दों की आवश्यकता में भी बना रहा। अब छिपने की कोई जगह नहीं थी। जागरण को खुले में खड़ा होना था।

प्रेमयोगी ने यह भी देखा कि बुद्धि अब तीखी या नाटकीय नहीं रही। वह धीमी, गोल, धैर्यवान हो गई थी। वह अंतर्दृष्टि की तरह नहीं आती थी, बल्कि प्रतिक्रिया की तरह आती थी। कोई कुछ कहता, और सही शब्द बिना सोचे निकल आते। कोई समस्या आती, और समाधान बिना प्रयास प्रकट हो जाता। भीतर कोई बहस नहीं होती थी। कोई तनाव नहीं था। कोई जल्दबाज़ी नहीं थी। बुद्धि देह में उतर चुकी थी। वह अब मन में संग्रहित नहीं थी; वह स्नायु तंत्र में, आसन में, श्वास में, समय-ज्ञान में रहने लगी थी। यह कोई पुस्तक नहीं सिखा सकती थी, न कोई अनुभव इसे तुरंत दे सकता था। इसे ऋतु-दर-ऋतु वृक्ष की तरह बढ़ना था।

कुछ क्षण ऐसे भी आए जब प्रेमयोगी को इस चरण से हल्का-सा निराशा भाव हुआ। मनाने के लिए कोई उन्माद नहीं था, याद रखने के लिए कोई उच्चावस्था नहीं थी, सुनाने के लिए कोई कहानी नहीं थी। सब कुछ सपाट, समतल, कभी-कभी उबाऊ लगने लगा। पर धीरे-धीरे उसने सत्य देखा: ऊब मन का नाटक को मिस करना है। जीवन स्वयं चिकना हो गया था,

और मन चिकनाई का उत्सव मनाना नहीं जानता था। समय के साथ, वह ऊब भी मिट गई, और उसकी जगह एक शांत संतोष आ गया। न सुख, न आनंद, बल्कि उससे भी गहरा और भरोसेमंद कुछ। यह अनुभूति कि कुछ भी कमी में नहीं है, तब भी जब कुछ विशेष नहीं हो रहा।

इस चरण ने लिखने के साथ उसका संबंध भी बदल दिया। पहले लिखना अत्यावश्यक था, लगभग बाध्यकारी। अब लिखना प्रतीक्षा करता था। शब्द तभी आते थे जब वे पक जाते थे। कई बार महीनों तक एक भी वाक्य नहीं लिखा जाता था, और यह ठीक था। अनुभव अभी भी खुल रहा था, और बहुत जल्दी लिख देना उसे जीवन के बजाय स्मृति बना देता। उसने समझा कि कुछ सत्य ऐसे होते हैं जिन्हें वर्षों के मौसम से गुजरने के बाद ही लिखा जाना चाहिए – सफलता और असफलता से, स्थिरता और अशांति से होकर। तभी उनमें भार आता है।

राम अवस्था सत्यनिष्ठा की अंतिम परीक्षा थी। वह बार-बार एक ही सरल प्रश्न पूछती थी: क्या तुम इसे जी सकते हो, या केवल जानते हो? क्या जागरूकता दिनचर्या में टिक सकती है? क्या विश्राम जिम्मेदारी में टिक सकता है? क्या संतुलन समय में टिक सकता है? प्रेमयोगी ने इस प्रश्न का उत्तर शब्दों से नहीं दिया। उसने हर दिन उपस्थित होकर दिया, ध्यान में बैठकर दिया, तब भी जब कुछ नहीं होता था, बिना शिकायत काम करके दिया, सरल रहकर दिया जब कुछ भी सरल होने को बाध्य नहीं कर रहा था। समेकन नाटकीय नहीं था, पर वह अडिग था।

धीरे-धीरे, बहुत धीरे, विश्राम से भी गहरा कुछ बैठ गया – भरोसा। जीवन में भरोसा, लय में भरोसा, उस बुद्धि में भरोसा जिसने बिना निर्देश हर चरण में उसे उठाया। अब उसे यह समझने की ज़रूरत नहीं थी कि पथ कहाँ जा रहा है। उसे बस चलना था। और चलते-चलते पथ स्वयं अपना आकार प्रकट करता गया।

इसी कारण राम अवस्था को अभी पूरी तरह लिखा नहीं जा सकता। वह अभी जीवन के माध्यम से स्वयं को लिख रही है। हर दिन एक वाक्य जोड़ता है। हर वर्ष एक अनुच्छेद जोड़ता है। और अंतिम अर्थ तभी स्पष्ट होगा जब जीवन पूरा होगा। तब तक शब्द प्रतीक्षा करेंगे, और जीवन पहले बोलेगा।

अध्याय 5: दैवी व्यवस्था और व्यक्तिगत प्रयास – विश्राम की अवधि

जब राम अवस्था प्रेमयोगी के जीवन में और गहराई से बैठने लगी, तब एक सत्य ऐसा था जिसे अब अनदेखा करना असंभव हो गया: विश्राम केवल साधक की संपत्ति नहीं है। वह न किसी की निजी उपलब्धि है, न उसकी गारंटी, और न ही व्यक्तिगत इच्छा से स्थायी रहने वाली वस्तु। वह एक बड़ी बुद्धि से उधार लिया हुआ है – ऐसी व्यवस्था से, जो पूरे ब्रह्मांड को बिना किसी की अनुमति के चलाती है। जितना अधिक वह इस अवस्था में जिया, उतना ही स्पष्ट होता गया कि स्थिरता कोई व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, बल्कि दो शक्तियों का सहयोग है – दैवी रूप से संचालित संसार और अनुशासित मनुष्य। इनमें से एक के बिना दूसरा संतुलन को लंबे समय तक नहीं संभाल सकता।

पहले के चरणों में प्रयास ही सब कुछ था – ऊपर उठने का प्रयास, टूटने का प्रयास, देखने का प्रयास, पार जाने का प्रयास। अब प्रयास की दिशा बदल गई। वह ऊपर धकेलने वाला नहीं रहा, बल्कि स्थिरता को संभालने वाला बन गया। वह विस्तार की ओर नहीं, संतुलन की रक्षा की ओर मुड़ गया। यह परिवर्तन सूक्ष्म था, लेकिन गहरा। प्रेमयोगी ने देखा कि अधिकांश साधक इसलिए नहीं चूकते कि वे ऊँचे अनुभवों तक नहीं पहुँच पाते, बल्कि इसलिए चूकते हैं कि वे वहाँ टिक नहीं पाते। स्नायु-तंत्र चढ़ना सीख लेता है, पर टिकना भी सीखना पड़ता है। राम अवस्था टिके रहने की शिक्षा भूमि थी।

उसने जाना कि विश्राम की भी एक अवधि होती है। वह मानव शरीर में अनंत नहीं रहता। वह आता है, ठहरता है, गहराता है, और कभी-कभी पीछे हट जाता है – जीवन की समग्र व्यवस्था के अनुसार। और यह व्यवस्था केवल ध्यान से तय नहीं होती। यह काम, रिश्ते, स्वास्थ्य, भोजन, नींद, जिम्मेदारी, समय और नियति की रहस्यमयी चालों से तय होती है। प्रेमयोगी को महसूस होने लगा कि भले ही भीतर का क्रम मजबूत हो, बाहरी जीवन की अपनी गति होती है। दैवी व्यवस्था किसी की शांति की रक्षा करने के लिए बाध्य नहीं है। वह केवल तैयारी और संतुलन का उत्तर देती है।

इस समझ से विनम्रता आई। उसने विश्राम को पुरस्कार समझना छोड़ दिया। वह न प्रयास का फल था, न दंड की तरह छीना जाने वाला। वह एक बड़ी लय के अनुसार चलता था। कुछ दिनों विश्राम गहरा और सहज होता था। कुछ दिनों वह पतला, नाज़ुक, आसानी से टूटने वाला लगता था। पहले ऐसा उतार-चढ़ाव चिंता पैदा करता। अब वह समझ पैदा करता। विश्राम एक जीवित संबंध बन गया, कोई संपत्ति नहीं। और हर संबंध की तरह उसे देखभाल, सावधानी और सम्मान चाहिए था।

व्यक्तिगत प्रयास समाप्त नहीं हुआ, बल्कि परिष्कृत हो गया। अब प्रयास का अर्थ था – कुछ भी विशेष न होने पर भी नियमित ध्यान। शरीर को हल्का और स्वच्छ रखना,

अनुशासन के नाम पर उसे थकाना नहीं। रीढ़-श्वास को कोमलता से करना, ऊर्जा जगाने के लिए नहीं, बल्कि स्पष्टता बनाए रखने के लिए। वाणी, समय और प्रतिक्रिया पर ध्यान रखना, नैतिक बनने के लिए नहीं, बल्कि अशांति रोकने के लिए। अनावश्यक उत्तेजना को 'ना' कहना और लय को 'हाँ' कहना। यह वीर प्रयास नहीं था। यह शांत, अदृश्य, और अक्सर दूसरों को दिखाई भी नहीं देता था। पर यही प्रयास उस विश्राम की नींव था जिस पर सब टिका था।

साथ ही, समर्पण और गहरा हो गया। प्रेमयोगी ने यह तय करने की कोशिश छोड़ दी कि यह अवस्था कितने समय तक रहे। उसने देख लिया था कि अवधि जीवन स्वयं तय करता है। कभी अचानक चुनौतियाँ आतीं, उसे फिर से सक्रियता में खींच ले जातीं, संतुलन की परीक्षा लेतीं। कभी हफ्तों तक मौन गहराता रहता, जैसे जीवन स्वयं विश्राम को फैलने दे रहा हो। उसने इन गतियों की व्याख्या करना छोड़ दिया। वह बस उपलब्ध रहा। समर्पण अब किसी परिणाम से चिपकना नहीं था, बल्कि बड़ी धारा में हस्तक्षेप न करना था।

एक क्षण ऐसा आया जब उसे गहरी स्पष्टता मिली – कि स्वयं राम, जो पूर्ण व्यवस्था का प्रतीक है, वह भी नियति के अधीन जीता है। उसका वनवास, उसकी परीक्षाएँ, उसके कर्तव्य – सब चुने हुए नहीं थे, फिर भी वह संतुलन में रहा। विश्राम का अर्थ बाधा का अभाव नहीं, बल्कि बाधा के भीतर गरिमा है। प्रेमयोगी ने यही अपने जीवन में देखा। दफ्तर का दबाव, जिम्मेदारियाँ, अपेक्षाएँ, थकान – सब आते रहे, पर भीतर की भूमि अब नहीं हिली। वे मौसम की तरह गुज़र गए।

उसने देखा कि दैवी व्यवस्था आराम की रक्षा नहीं करती; वह विकास की रक्षा करती है। यदि विश्राम आसक्ति बन जाए, तो वह हिलाया जाता है। यदि संतुलन अहंकार बन जाए, तो उसकी परीक्षा होती है। यदि मौन पहचान बन जाए, तो वह टूटता है। यह समझ डर को मिटा गई। अगर कभी विश्राम खो भी जाए, तो वह केवल उसे और परिष्कृत करने के लिए होगा। राम अवस्था कोई अंतिम शरण नहीं थी; वह स्थिरता का विद्यालय थी। दैवी संसार गुरु था, और जीवन परीक्षा।

धीरे-धीरे, योजना की जगह एक शांत भरोसा आ गया। प्रेमयोगी ने अपने पथ के भविष्य की चिंता छोड़ दी। उसने प्रगति को मापना छोड़ दिया। उसने यह पूछना छोड़ दिया कि कितना आ गया, कितना बाकी है। वह बस अपना अनुशासन हल्का रखता और समर्पण गहरा। प्रयास और समर्पण का यह संतुलन ही धर्म का जीवित अर्थ बन गया। पहले प्रयास बिना समर्पण तनाव पैदा करता था। समर्पण बिना प्रयास आलस्य लाता था। अब दोनों एक साथ खड़े थे, जैसे एक शरीर को ले जाने वाले दो पाँव।

विश्राम की प्रकृति भी बदलने लगी। वह अब बाहरी मौन पर निर्भर नहीं रहा। शोर में भी बना रहा। गति में भी बना रहा। जिम्मेदारी में भी बना रहा। विश्राम की अवधि बढ़ी, किसी निरंतर अवस्था के रूप में नहीं, बल्कि पृष्ठभूमि की उपस्थिति के रूप में। अशांति आने पर भी प्रणाली जल्दी संतुलन में लौट आती, जैसे मज़बूत केंद्र वाला लोलक। यह मानव अनुशासन और दैवी व्यवस्था के सहयोग का फल था।

प्रेमयोगी ने समझ लिया कि यही राम अवस्था की अंतिम शिक्षा है: अपना भाग पूरी तरह निभाओ, और संसार को अपना भाग स्वतंत्र रूप से निभाने दो। विश्राम की अवधि नियंत्रित करने की कोशिश मत करो। डर से उसकी रक्षा मत करो। लालच से उसे बढ़ाने की कोशिश मत करो। बस संरेखित रहो, और विश्राम बड़ी लय के अनुसार आएगा और जाएगा। मनुष्य की जिम्मेदारी तैयारी है, परिणाम नहीं।

जैसे-जैसे यह समझ पकी, अस्तित्व के साथ उसका संबंध गहरे विश्राम में बदल गया। जीवन अब हल करने की समस्या नहीं रहा। वह भरोसे का प्रवाह बन गया। अस्थिरता से भी डर नहीं रहा, क्योंकि संतुलन का स्वाद इतना गहरा चख लिया गया था कि लौटने का मार्ग ज्ञात हो चुका था। यह आत्मविश्वास अहंकार नहीं था; यह धरातली विनम्रता थी। प्रणाली रास्ता जानती थी, और वही पर्याप्त था।

इस प्रकार राम अवस्था किसी निष्कर्ष के साथ नहीं, बल्कि भरोसे के साथ बंद हुई। भरोसा कि दैवी व्यवस्था जानती है कब विश्राम देना है और कब लेना है। भरोसा कि व्यक्तिगत अनुशासन प्रणाली को तैयार रखेगा। भरोसा कि संतुलन अगर डगमगाएगा भी, तो लौट आएगा। यह विश्वास किसी धारणा पर आधारित नहीं था, बल्कि अनुभव पर। एक शांत, अडिग विश्वास कि जीवन और चेतना विरोधी नहीं, बल्कि एक ही प्रवाह के दो साथी हैं।

और इस तरह अंतिम भाग यहीं समाप्त होता है – पूर्णता की घोषणा के साथ नहीं, बल्कि मनुष्य और अस्तित्व के बीच एक स्थिर समझौते के साथ। प्रेमयोगी अब भी जीता है, ध्यान करता है, काम करता है और विश्राम करता है, यह जाने बिना कि यह चरण कितने समय चलेगा, और यह जानने की आवश्यकता भी बिना। विश्राम ने उसे अपना अंतिम पाठ सिखा दिया है: तैयार रहो, संतुलित रहो, और शेष का निर्णय दैवी संसार पर छोड़ दो।

इस पुस्तक को पढ़ने के लिए धन्यवाद।

प्रेमयोगी वज्र द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें (हिंदी)

1. शरीरविज्ञान दर्शन: एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र (एक योगी की प्रेमकथा)
2. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 4
3. एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र: एक योगी की प्रेमकथा
4. दिव्य मूँछ-पुराण स्तोत्र: व्यंग्यात्मक अध्यात्म के आलोक में
5. पुराण पहेली: रूपात्मक अध्यात्मविज्ञान की पराकाष्ठा
6. सनातन धर्म: एक *एक जिया हुआ अनुभव* – भीतर की यात्रा और आत्मजागरण
7. स्वयं-प्रकाशन व वेबसाइट निर्माण की कला
8. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान
9. संभोग से कुंडलिनी जागरण तक: रहस्यात्मक यौनतंत्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
10. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 5
11. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 3
12. ई-रीडर पर मेरी कुण्डलिनी वेबसाइट
13. क्वांटम एवं अंतरिक्ष विज्ञान में योग: जहाँ विज्ञान समाप्त होता है, वहीं से योग आरम्भ
14. भीष्म पितामह: महायोगी का रहस्य – महाभारत की छिपी योगिक शक्ति
15. वह जो मेरी गुरु बनी
16. तंत्र: ज्ञानों का ज्ञान
17. नाचती नागिन: जब ऊर्जा दिशा सीखती है
18. विपश्यना और कुंडलिनी: इक-दूजे के लिए
19. कुण्डलिनी विज्ञान: निर्विकल्प की यात्रा – पुस्तक 6
20. सांख्य संसार: सांख्य, योग एवं वेदान्त का रोमांचक सम्मिलन
21. अकेले का नाच: अद्वैत भाव से कुंडलिनी जागरण
22. चंद्र-चिकित्सक: पृथ्वी से परे चेतना और जीवन की यात्रा
23. कुण्डलिनी रहस्योद्घाटित: प्रेमयोगी वज्र क्या कहता है
24. ब्लैकहोल की योगसाधना: एक मेल खाती ब्रह्मांड-कथा
25. भीतर की गाय: इंद्रियों, जागरूकता और मुक्ति का शास्त्रीय विज्ञान
26. बहुतकनीकी जैविक खेती एवं वर्षाजल-संग्रहण: एक पर्यावरणप्रेमी योगी की कहानी
27. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 2
28. **क्वांटम दर्शन: क्वांटम स्तर पर शरीरविज्ञान दर्शन**

29. **कृष्ण-जीवन**: *लीला, रस, भक्ति और समाधि के माध्यम से चेतना का विकास-सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव श्रृंखला;* **खंड 2**

शृंखला:

1. कुण्डलिनी विज्ञान - एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान (पुस्तकें 1-6)
2. *सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव* (पुस्तकें 1-2)

पाठक अमेज़न पर या सर्च इन्जंस पर लेखक का नाम सर्च करके पुस्तकें देख सकते हैं।

उपरोक्त सभी पुस्तकें **ऑडियोबुक फ़ॉर्मेट** में भी उपलब्ध हैं।
इन पुस्तकों का विवरण Amazon Author Central, Author Page तथा
वेबसाइट के "Shop (Library)" अनुभाग पर उपलब्ध है:
https://demystifyingkundalini.com/shop

साप्ताहिक लेख (विशेषतः कुंडलिनी-सम्बंधित) प्राप्त करने के लिए
कृपया वेबसाइट को **निःशुल्क फॉलो या सब्सक्राइब** करें:
https://demystifyingkundalini.com

सर्वत्रं शुभमस्तु।

Thanks for reading this book.

Other Books Written by Premyogi Vajra (English)

1. *A New Age Kundalini Tantra: Autobiography of a Love-Yogi*
2. *The Moon Vet: Consciousness, Cosmic Civilizations & Life Beyond Earth*
3. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 5*
4. *Dancing Serpent: The Play of Inner Energies*
5. *Love Story of a Yogi: What Patanjali Says*
6. *Purana Riddles: Decoding the Hidden Meanings of the Puranas*
7. *Tantra: The Ultimate Knowledge*
8. *Kundalini Demystified: What Premyogi Vajra Says*
9. *Organic Planet: Autobiography of an Eco-Loving Yogi*
10. *Comic Mythology: Awakening the Spirit with Beards*
11. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 2*

12. *Sex to Kundalini Awakening: Mystical Sexual Tantra Explained*
13. *She Who Became My Guru*
14. *Mythological Body: A New-Age Physiology Philosophy*
15. *My Kundalini Website on E-Reader*
16. *The Art of Self-Publishing and Website Creation*
17. *Bhishma Pitamaha: The Unsung Mahāyogī*
18. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 4*
19. *Vipassana & Kundalini: Harmonizing Inner Awakening*
20. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 3*
21. *Beyond Kundalini: The Journey to Nirvikalpa - Book 6*
22. *Sanātana Dharma: A Lived Experience*
23. *Sankhya Sansar: Sankhya, Yoga & Vedanta United*
24. *Quantum Science & Space Science in Yoga*
25. *Quantum Darshan: Consciousness, Body & the Quantum Universe*
26. *Blackhole Doing Yoga: A Cosmic Allegory*
27. *The Dance of Unity: Kundalini Through Non-Dual Awareness*
28. Kundalini Science: A Spiritual Psychology
29. Krishna Living: Play, Love, Yoga, and the Evolution of Consciousness- Sanātana Dharma - Lived Experience (Series) Volume II

Series:

1. **Kundalini Science - A Spiritual Psychology (Books 1-6)**
2. **Sanatana Dharma - Lived Experience (Books 1-2)**

Readers can find the books on Amazon by searching the author's name there or on search engines.

All titles are also available in **audiobook format**.
Explore and access them at:
demystifyingkundalini.com/shop

Follow or subscribe (free) to receive weekly insights—especially on Kundalini—and stay connected.

Good luck on your journey, wherever it leads.